

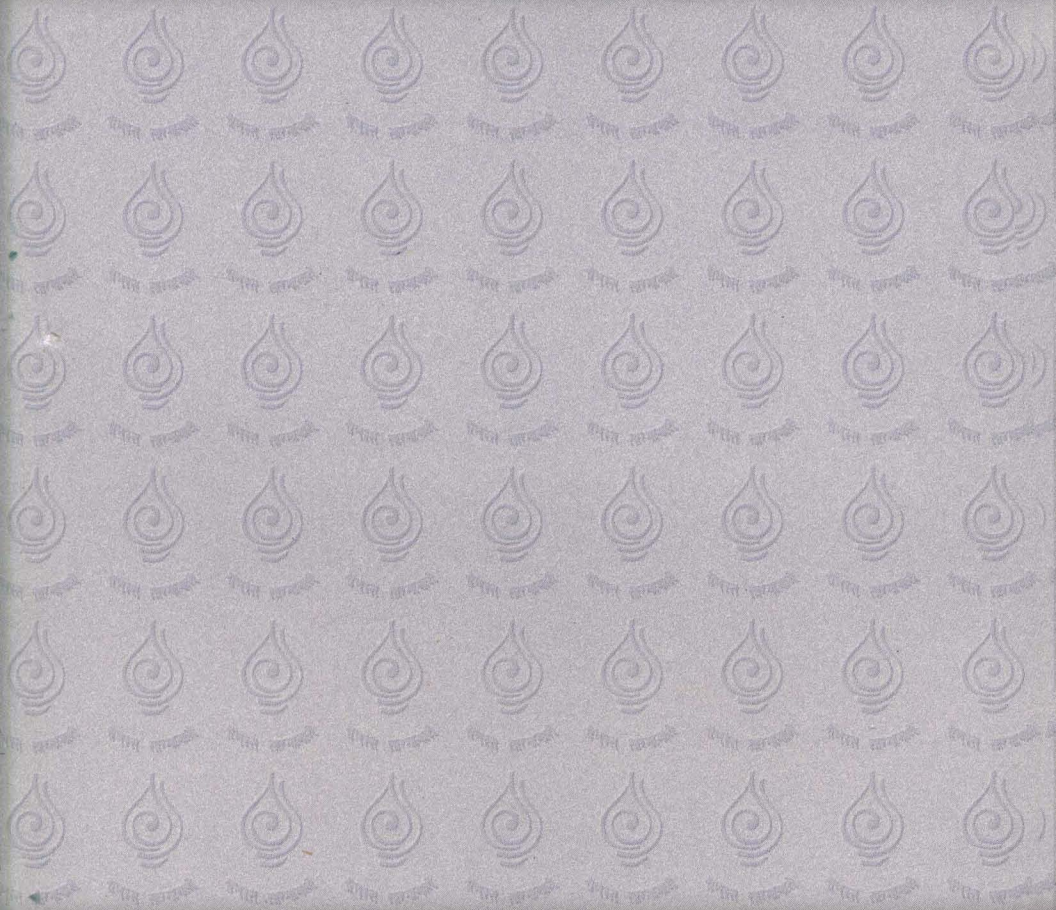
# तुलसी प्रज्ञा

## TULSĪ PRAJÑĀ

वर्ष 30 • अंक 118 • अक्टूबर-दिसम्बर, 2002

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी



जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ

( मान्य विश्वविद्यालय )

**JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN**  
**(DEEMED UNIVERSITY)**

જાઇન્સ સંસ્થા

# तुलसी प्रज्ञा

---

# TULSI PRAJÑĀ

---

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

---

VOL.-118

OCTOBER—DECEMBER, 2002

## Patron

Sudhamahi Regunathan  
Vice-Chancellor

## Editor in Hindi Section

Dr. Mumukshu Shanta Jain

## English Section

Dr. Jagat Ram Bhattacharya

## Editorial-Board

Dr. Mahavir Raj Gelra, Jaipur  
Prof. Satyaranjan Banerjee, Calcutta  
Dr. R.P. Poddar, Pune  
Dr. Gopal Bhardwaj, Jodhpur  
Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun  
Dr. Bachh Raj Dugar, Ladnun  
Dr. Hari Shankar Pandey, Ladnun  
Dr. J.P.N. Mishra, Ladnun



Publisher :

Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

---

---

# Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

---

VOL. 118

OCTOBER—DECEMBER, 2002

## Editor in Hindi

Dr. Mumukshu Shanta Jain

## Editor in English

Dr. Jagat Ram Bhattacharya

## Editorial Office

Tulsi Prajna, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)  
LADNUN-341 306 (Rajasthan)

---

**Publisher** : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)  
Ladnun-341 306 (Rajasthan)

**Type Setting** : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)  
Ladnun-341 306 (Rajasthan)

**Printed at** : Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015 (Rajasthan)

---

---

Subscription (Individuals) Three Year 250/-, Life Membership Rs. 1500/-  
Sub-Institutions/Libraries) Annual Rs. 200/-

---

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

## धर्म और शास्त्र

चिन्तनशील व्यक्ति यह मानने को तैयार नहीं होता कि सत्य जो है, वह सब शास्त्र की भाषा में बंध जाता है। फिर भी जो सम्प्रदाय और परम्परा को साथ लिए चलता है और शास्त्रों में विश्वास करता है, उसे फूल के साथ कांटों की चुभन सी सहनी होती है।

जब-जब शास्त्रीय वाक्यों की दुहाई बढ़ती है और आत्मानुभूति घटती है, तब-तब शास्त्र तेजस्वी और धर्म निस्तेज हो जाता है।

जब-जब आत्मानुभूति बढ़ती है और शास्त्रीय वाक्यों की दुहाई घटती है, तब-तब धर्म तेजस्वी और शास्त्र निस्तेज हो जाता है।

— आचार्य महाप्रज्ञ

## अनुक्रमणिका/CONTENTS

विषय	लेखक	पृष्ठ
'महाप्रज्ञ दर्शन' में दृष्टि-परिवर्तन	प्रोफेसर दयानन्द भार्गव	3
विद्युत् : सचित्त या अचित्त?	आचार्य महाप्रज्ञ	15
भगवान बुद्ध की शिक्षाओं का सामाजिक सरोकार	प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन	29
उत्तराध्ययन में प्रतीक	समणी अमितप्रज्ञा	39
कर्मबंध की प्रक्रिया	साध्वी श्रुतयशा	53
नाम कर्म और शरीर रचना विज्ञान	साध्वी आरोग्यश्री	63
प्राकृत ग्रंथों में कर्मसिद्धान्त का विश्लेषण	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	69
जैन दर्शन में गुणस्थान	मुनि मदनकुमार	81
जैन साहित्य और दर्शन की प्रासंगिकता	डॉ. मनमोहन स्वरूप माथुर	84
ज्योतिष-विद्या को जैनाचार्यों का अवदान	मनोज कुमार श्रीमाल	92
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	99
The Stage of Development of the Prākṛit of Bhāṣas Dramas and his age	V. Lesny	115
Concept of Nisreyas in Jain Philosophy	Muni Mahendra Kumar	122
Implications of the Concept of Mode	Dr. Samani Chaitnya Prajna	125
Yogic Exercises And Meditation Improve Sleep Quality and Mental Health	Dr. J.P.N. Mishra	131

# ‘महाप्रज्ञ दर्शन’ में

दृष्टि-परिवर्तन की भावभूमि

— प्रोफेसर दयानन्द भार्गव

आचार्य महाप्रज्ञ एक व्यक्ति नहीं, एक संस्कृति है। उनकी सन्तता और जागृत प्रज्ञा ने आगम-अनुसंधान का दुरूह कार्य सम्पादन कर सत्य की तलाश में जो दर्शन, विचार, तथ्य और निष्कर्ष प्राप्त किए, आज वे दार्शनिक, साहित्यिक, बौद्धिक एवं चिन्तनप्रौढ़ विद्वद् समाज के बीच मील के पत्थर बने हैं। उनका साहित्य उनके जीए गए अनुभवों का निचोड़ है। वे पढ़े-पढ़ाए ज्ञान को लेखन और भाषा में नहीं उतारते बल्कि प्रज्ञा की आंख से परखते हैं – सत्य की कसौटी पर कसते हैं।

सम्प्रदाय की सीमाओं में रहकर भी उनकी साम्प्रदायातीत स्वतंत्र चेतना साधुता की भूमिका पर सर्वदर्शी एवं सर्वकल्याणी है। इसीलिए उनके साहित्य का गहराई तक पहुंच कर प्रोफेसर दयानन्द भार्गव ने वर्षों तक अध्ययन-अनुसन्धान किया और अथाह ज्ञान-समन्दर में डुबकी लगाकर जो रत्न प्राप्त किए, उन रत्नों को उन्होंने महाप्रज्ञ दर्शन नामक एक ग्रन्थ में लिपिबद्ध कर विद्वानों को इस वर्ष का एक अनूठा उपहार प्रदान किया है।

महाप्रज्ञ दर्शन शीर्षक ग्रन्थ में दृष्टि, भावभूमि, व्यवहार और परमार्थ – उपशीर्षकों में आचार, विचार, व्यवहार, दर्शन, शिक्षा आदि चिन्तनाओं को गहन अध्ययन, अन्वेषण-अनुशीलन के बाद डॉ. भार्गव ने लिखकर इस ग्रन्थ को भारतीय वाङ्मय की परम्परा में एक आदर्श कड़ी के रूप में खड़ा कर दिया है।

इस ग्रन्थ की समीक्षा का दायित्व जिज्ञासु पाठकों को सौंपते हुए तुलसी प्रज्ञा के इस अंक में ग्रन्थ का एक महत्वपूर्ण अंश प्रस्तुत कर रहे हैं जो आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य को पढ़ने के बाद यह आलेख लेखक के गम्भीर अध्ययन, सूक्ष्म मेधा, सम्यक् ग्रहणशीलता और उदार चिन्तन का प्रतीक है। उन्होंने इस अध्याय का निर्माण कर प्राचीनता के साथ आधुनिकता का केवल समन्वय ही स्थापित नहीं किया बल्कि स्वतंत्र चिन्तन के साथ सत्य की तलाश में साहसी कदम उठाया है। प्रस्तुत है महाप्रज्ञ दर्शन ग्रन्थ का दृष्टि नामक अध्याय, जो हमारे प्रचलित धारणाओं में चिन्तन की प्रतिबद्धताओं को ढीला कर सच्चाई से रू-बरू होने का स्वर्णिम अवसर देती है।

— सम्पादक

आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य की एक महत्वपूर्ण निष्पत्ति है—दृष्टि-परिवर्तन। हमारे मानस में कुछ मिथ्या धारणाएं जड़ जमाये रहती हैं। विचार करने पर पता चलता है कि हमारी वे धारणाएं भ्रान्त थीं। जब तक उन मिथ्या धारणाओं का निराकरण न हो और सम्यक् धारणा उनका स्थान न ले ले, तब तक वे मिथ्या धारणाएं ही हमारे जीवन को संचालित करती रहती हैं। परिणाम होता है—कुण्ठा, संत्रास और विरसता। जब सम्यक् धारणाएं मिथ्या धारणाओं के स्थान पर आती हैं तो जीवन की दिशा भी बदल जाती है और परिणाम होता है—प्रफुल्लता, अभय और सरसता। आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य का अनुशीलन करने से जो मुख्य दृष्टि-परिवर्तन हमारे सम्मुख आये, उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है। पाठकों की सुविधा के लिए हम इस विवरण को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत दो कॉलम में विभक्त करके दे रहे हैं। प्रथम कॉलम में वे धारणाएँ हैं जो सामान्यतः प्रचलित रहती हैं और द्वितीय कॉलम में वे धारणाएँ हैं जो आचार्य महाप्रज्ञ का साहित्य पढ़ने के अनन्तर बनती हैं —

## भाव-भूमि

प्रचलित अवधारणा	सम्यक् अवधारणा
१. सत्य उतना ही है जितना इन्द्रियों से प्रतीति में आता है।	१. कुछ सत्य ऐसे भी हैं, और वे अधिक महत्वपूर्ण हैं—जो इन्द्रियातीत हैं।
२. हम जो जानते हैं वही मानते हैं।	२. कभी-कभी हम जानते कुछ और हैं और मानते कुछ और हैं।
३. हम जो सोचते हैं वही करते हैं।	३. कभी-कभी हम सोचते कुछ और हैं तथा करते कुछ और हैं।
४. संसार के काम बिना बेईमानी के सिद्ध नहीं होते।	४. अन्ततोगत्वा बेईमानी से होने वाले लाभ की अपेक्षा बेईमानी से होने वाली हानि कई गुणा अधिक होती है।
५. मोक्ष की साधना कुछ गिने-चुने लोगों के लिए है।	५. मोक्ष हम सबका जन्मसिद्ध अधिकार है।
६. धर्म उनके लिए है जिन्होंने संसार छोड़ दिया है।	६. धर्म संसारी पुरुषों के लिए भी आवश्यक है।
७. अध्यात्म एक हवाई चीज है, ठोस है समाज-सेवा।	७. अध्यात्म के बिना समाज-सेवा बिना जड़ की बेल है।
८. हम सामान्य व्यक्ति हैं, सन्त नहीं। हमारा कार्य क्रोध, मान, माया और लोभ के बिना नहीं चल सकता।	८. क्रोध, मान, माया और लोभ भले कितने भी आवश्यक लगे, किंतु वे सत्य को ढकते ही हैं।

९. आत्मज्ञान एक रहस्यमय चीज है। ९. मैं स्वयं आत्मा हूँ। अपने को जानना ही आत्मज्ञान है।
१०. भोगोपभोग के पदार्थ हमें सुख देते हैं। १०. यदि हमारा मन अशान्त है तो हमें कोई भी पदार्थ सुख नहीं दे सकता।
११. आत्मज्ञान के लिए शरीर के परे जाना होगा। ११. आत्मा को जानने के लिए सबसे पहले शरीर को जानना होगा।
१२. शरीर अलग है, मन अलग है। क्रोध मन में आता है, कैंसर शरीर में होता है। इन दोनों का आपस में कोई संबंध नहीं है। १२. मन के विकार ही शरीर में रोग रूप में परिणत होते हैं।
१३. नास्तिक वह है जो ईश्वर को नहीं मानता। १३. नास्तिक वह है जो यह मानता है कि वह बुरा काम करके उस के फल से बच सकता है।
१४. शरीर का मुख्य घटक परमाणु है, उन्हीं से शरीर का निर्माण होता है। १४. शरीर में मुख्य स्थान स्पन्दन का है, ये स्पन्दन ही हमारी मनःस्थिति और शरीर की स्थिति का निर्धारण करते हैं।
१५. हमारा अस्तित्व हमारे शरीर तक सीमित है। १५. हमारा आभामण्डल हमारे शरीर के बाहर तक फैला है। वह आभामण्डल भी हमारे अस्तित्व का हिस्सा ही है और वह आभामण्डल शरीर से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।
१६. हम सबका अस्तित्व अलग-अलग है। हम स्वयं में पर-निरपेक्ष रूप में स्थित हैं। १६. मुक्त आत्माओं को छोड़कर हम सब एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।
१७. श्रद्धा वह है, जहाँ तर्क नहीं है। १७. श्रद्धा वह है जो हमें दूसरों की अच्छाई के प्रति ग्रहणशील बनाती है।
१८. धर्म अंध-विश्वासों पर टिका है। १८. धर्म हमारे उन अंध-विश्वासों पर चोट करता है जिन्हें हम सहज ही सदा पाले रहते हैं।
१९. पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु जड़ है। इन्हें सुख-दुःख नहीं होता। १९. पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु सजीव है, इन्हें भी सुख-दुःख होता है।
२०. हमें दूसरों के सुख-दुःख से कोई प्रयोजन नहीं। हमें अपना ही सुख साधना है। २०. दूसरों के प्रति क्रूरता का भाव हमें कठोर बना देता है और हमारी ग्रहणशीलता



समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में न हमें दूसरों के सद्भाव का लाभ मिलता है, न आशीर्वाद का।

२१. जो जितना स्थूल है वह उतना शक्तिशाली है।
२१. जो जितना सूक्ष्म है वह उतना अधिक शक्तिशाली है।
२२. चेतन और जड़ एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते।
२२. चेतन और जड़ एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।
२३. पौष्टिक भोजन से शरीर पुष्ट होता है।
२३. केवल भोजन ही हमारे शरीर को नहीं बनाता। हमारे शरीर के निर्माण में वह मनःस्थिति भी महत्त्वपूर्ण योगदान देती है, जिस मनःस्थिति से हम भोजन करते हैं।
२४. एक-सी परिस्थिति में सबको एक-सा ही अनुभव होगा।
२४. एक-सी परिस्थिति होने पर भी सबके अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं।
२५. परिस्थिति की अनुकूलता और प्रतिकूलता निश्चित है।
२५. निषेधात्मक दृष्टिकोण अनुकूल को भी प्रतिकूल बना देता है। विधेयात्मक दृष्टिकोण प्रतिकूल को भी अनुकूल बना देता है।
२६. हम छोटे-बड़े गरीब-अमीर हैं।
२६. हम अपने शुद्ध रूप में न छोटे हैं, न बड़े।
२७. हमें कोई अन्य व्यक्ति सत्य का दर्शन करा देगा।
२७. अपना सत्य स्वयं खोजना पड़ता है।
२८. हम विचार करके सत्य को जान लेंगे।
२८. सत्य वहाँ नहीं है जहाँ विचार ले जाता है। सत्य उस निर्विचारता में है जिस निर्विचारता में से विचार उत्पन्न होता है।
२९. पदार्थ को बदलने के लिए कुछ क्रिया करनी पड़ती है। केवल देखने-जानने से कोई परिवर्तन नहीं आता।
२९. क्रिया ऊपरी परिवर्तन ला सकती है। आन्तरिक परिवर्तन देखने-जानने से ही आता है।
३०. संस्कार मन में रहते हैं, शरीर में नहीं।
३०. शरीर भी संस्कारों का वाहक है।

३१. हमारी भावना पृथक् है, शरीर की स्थूल क्रिया पृथक् है।
३२. हम सुख-दुःख के द्वन्द्वों में जीते हैं।
३३. हम निरन्तर बदल रहे हैं।
३४. जैसे हम बूढ़े होते हैं वैसे कमजोर हो जाते हैं।
३५. प्रतिष्ठा पाकर हमारा उत्साह बढ़ता है और उससे व्यक्ति को सफलता मिलती है।
३६. कष्टों से व्यक्ति निर्बल होता है।
३७. शरीर के समाप्त होने पर हम समाप्त हो जायेंगे।
३८. मुक्ति के लिए कर्म छोड़ना आवश्यक है।
३९. काल सीधी रेखा के रूप में चलता है।
४०. काल के प्रभाव से हम बूढ़े होते हैं और मरते हैं।
३१. भावना से शरीर की स्थूल क्रिया प्रभावित होती है।
३२. सुख-दुःख के द्वन्द्व हमारे मन की उपज है। हम सुख-दुःख से परे हैं।
३३. हमारे अस्तित्व का दृश्य भाग बदलता है, साक्षी भाग नहीं।
३४. कमजोर होना जरा है, परिपक्वता वार्धक्य है। अवस्था बढ़ने पर शरीर जीर्ण हो सकता है, किंतु परिपक्वता में वृद्धि होनी चाहिए।
३५. प्रतिष्ठा पाकर हम ये मान लेते हैं कि हम बहुत बड़े हैं, इससे हम पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं और हमारा विकास रुक जाता है।
३६. कष्टों से व्यक्ति निखरता है।
३७. शरीर के समाप्त होने पर ही हमारा अस्तित्व बना रहेगा।
३८. मुक्ति के लिए कर्म छोड़ना आवश्यक नहीं है। आवश्यक है—कर्म के प्रति जागरूकता।
३९. काल वर्तुलाकार चलता है।
४०. जरा और मृत्यु शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं।

## समाज

### प्रचलित अवधारणा

- व्यक्ति परिस्थिति का निर्माण करता है अथवा परिस्थिति व्यक्ति का निर्माण करती है।
- परिस्थिति ठीक हो तो व्यक्ति अपने आप सुधर जाएगा अथवा व्यक्ति ठीक हो तो संस्थाएं अपने-आप सुधर जायेंगी।

### सम्यक् अवधारणा

- व्यक्ति और परिस्थिति एक दूसरे का निर्माण करते हैं।
- व्यक्ति के लिए साधना में से गुजरना और संस्थाओं के लिए ठीक व्यवस्था का निर्माण करना दोनों आवश्यक हैं।

३. एक आदर्श समाज की व्यवस्था होनी चाहिए।
४. जैन परम्परा में सामाजिक व आर्थिक तन्त्र का चिन्तन नहीं है।
५. पूंजीवादी व्यवस्था में पूर्ण स्वतन्त्रता है।
६. सब कार्य पैसे से सिद्ध हो जाते हैं।
७. पैसे पर यदि राज्य का अधिकार होगा तो शोषण नहीं होगा।
८. वर्णाश्रम व्यवस्था सर्वोत्तम है।
९. उत्पादन का प्रयोजन लाभ कमाना है।
१०. शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को नौकरी दिलाना है।
११. अभाव पीड़ा का कारण है।
१२. अभाव दुःख का कारण है।
१३. परिग्रह जितना अधिक हो, उतना अच्छा।
१४. समाजवादी व्यवस्था सर्वोपकारी है।
१५. विकास का अर्थ है—पूरे विश्व में उत्पन्न होने वाले उत्तम पदार्थों का संग्रह व भाग।
१६. परिग्रह सम्मान का कारण है।
३. समाज व्यवस्था कितनी भी आदर्श हो, उसमें देश व काल के अनुसार परिवर्तन अपेक्षित रहता है।
४. प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने राजपद पर रहते समय असि, मसि और कृषि की व्यवस्था द्वारा सामाजिक तथा आर्थिक तन्त्र की चिन्ता की थी।
५. इच्छा पर अंकुश लगाए बिना स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता बन जाती है।
६. पैसा यदि साधन न रहकर साध्य बन जाए तो वह मनुष्य को दीन-हीन बना देता है।
७. राज्य सत्ता भी अत्याचार कर सकती है।
८. वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ऊंच-नीच के भेदभाव ने मनुष्य को अपमानित किया है।
९. उत्पादन मनुष्य के हित को केन्द्र में रखकर होना चाहिए।
१०. शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सुसंस्कृत बनाना है।
११. केवल अभाव ही नहीं, अक्षमता भी पीड़ा का कारण है।
१२. अभाव ही नहीं, अतिभाव भी दुःख का कारण है।
१३. परिग्रह व त्याग के बीच सन्तुलन होना चाहिए।
१४. समाजवादी राष्ट्र भी घातक शस्त्रों की होड़ में किसी से पीछे नहीं रहे।
१५. स्वदेशी और स्वावलम्बन राष्ट्रीय स्तर पर शोषण को रोकने का उपाय है।
१६. सम्मान का कारण है—चरित्र।

१७. सभी स्वार्थी हैं।

१७. बृहत्तर स्वार्थ ही सच्चा स्वार्थ है। बृहत्तर स्वार्थ का अर्थ है—ऐसा स्वार्थ जो पदार्थ का विरोधी नहीं है।

१८. अधिक लोगों के सुख के लिए थोड़ों का सुख छोड़ा जा सकता है।

१८. सभी समान हैं। किसी का सुख किसी दूसरे के सुख के लिए छीना नहीं जा सकता।

१९. भोग की अधिक से अधिक सामग्री बाजार में लानी चाहिए।

१९. वरीयता मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं को देनी चाहिए।

२०. धन ही सब कुछ है।

२०. ज्ञान, आत्म-सम्मान और सेवा का भी महत्त्व है।

२१. विकास के लिए केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था आवश्यक है।

२१. कर्मचारियों के संतोष के लिए विकेन्द्रीकरण है।

## संयम

प्रचलित अवधारणा	सम्यक् अवधारणा
१. सैक्स का संयम हानिकारक है।	१. अनियन्त्रित सैक्स न केवल शारीरिक रोग लाता है अपितु मानसिक विकसिता भी लाता है।
२. सैक्स का नियन्त्रण संभव नहीं है।	२. सैक्स के नियन्त्रण की एक विधि है, जिसे जान लेने पर सैक्स का नियन्त्रण सम्भव है।
३. भोग सुख देता है।	३. भोग ऊर्जा का व्यय करता है।
४. ब्रह्मचर्य का जीवन दुःखपूर्ण है।	४. अब्रह्म का सेवन हमारा सन्तुलन बिगाड़ता है।
५. वीतरागता विरसता लाती है।	५. आसक्ति भोगों में भी बाधक है।
६. इच्छा की पूर्ति में सुख है।	६. इच्छा में विवेक करना आवश्यक है।
७. दमन अहितकर है।	७. भोग हमारे मनोबल को क्षीण करता है।
८. भोजन शक्ति बढ़ाता है।	८. अतिभोजन रोग का घर है।
९. तप कष्टकर है।	९. विलासिता दुर्बल बनाती है।

१०. इन्द्रियाँ सुख का साधन हैं।

११. यौवन का अर्थ है-शक्ति।

१०. वास्तविक सुख अतीन्द्रिय है।

११. यौवन का अर्थ है-शरीर का लचीलापन और बुद्धि की ग्रहणशीलता।

## पर्यावरण

प्रचलित अवधारणा	सम्यक् अवधारणा
१. जड़ और चेतन का परस्पर कोई संबंध नहीं।	१. मुक्त चेतना को छोड़कर शेष सभी स्थितियों में जड़ और चेतन एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं।
२. प्रकृति हमारी भोग्या है।	२. अस्तित्व में प्रकृति, वनस्पति और पशु का भी उसी प्रकार का महत्त्व है जिस प्रकार हमारा।
३. पर्यावरण को हम शुद्ध कर सकते हैं।	३. पर्यावरण की शुद्धि की प्रक्रिया प्रकृति में स्वतः चलती है। हम उसमें हस्तक्षेप करते हैं तो वह व्यवस्था गड़बड़ा जाती है।
४. हम प्रकृति का संचालन करते हैं।	४. प्रकृति में हम कुछ भी नया नहीं बना सकते। प्रकृति जो कुछ देती है, हम केवल उसका उपयोग कर सकते हैं।
५. उद्योगों को बढ़ावा देकर हम विकास करते हैं।	५. उद्योगों से होने वाला प्रदूषण प्राकृतिक सम्पदा की दृष्टि से हमें दरिद्र बनाता है।
६. केन्द्रीकृत अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत बड़े उद्योगों से पैदा होने वाला माल सस्ता और सुलभ होता है।	६. केन्द्रीकृत व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक मनुष्य नहीं रहकर यन्त्र बन जाता है।
७. हस्तशिल्प का काम भौंडा होता है।	७. हस्तशिल्प में सौन्दर्य है।
८. मूलभूत आवश्यकताएं निश्चित हैं।	८. मूलभूत आवश्यकताओं की सूची सापेक्ष है। किसी के लिए टेलीविजन मूल आवश्यकता है, किसी के लिए वह शान्ति में बाधक है।

९. धन साध्य है, उसे कमाने के लिए कोई भी उपाय बरता जा सकता है।
९. प्रकृति के शोषण से एक बार धन भले ही मिल जाए लेकिन लम्बे समय में हम उन मूलभूत साधनों से ही वंचित हो जाते हैं जिनके आधार पर उद्योग-धन्धे चलते हैं।

## अहिंसा

प्रचलित अवधारणा	सम्यक् अवधारणा
१. मित्र के प्रति मैत्री का नियम उचित है।	१. अहिंसा बेशर्त होती है।
२. जीवन के अतित्व के लिए की गई हिंसा हिंसा नहीं है।	२. हिंसा हर हालत में हिंसा ही है।
३. हिंसा का कारण क्रूरता है।	३. तनाव के कारण भी व्यक्ति हिंसक हो जाता है।
४. सत्य के प्रति तो आग्रह होना ही चाहिए।	४. किसी भी प्रकार का आग्रह हिंसा का हेतु है।
५. सुरक्षा के लिए हिंसा उचित है।	५. अहिंसा की पहली शर्त है-अभय।
६. अहिंसा अव्यावहारिक है।	६. व्यवहार के लिए भी एक सीमा तक अहिंसा आवश्यक है।
७. हम सब अलग-अलग हैं।	७. भेद में छिपे अभेद को जानना आवश्यक है।
८. सुविधा उपलब्ध हो तो हिंसा नहीं होती।	८. हिंसा की जड़ में भोग की इच्छा मुख्य है।
९. अहिंसा निर्बलों के लिए है।	९. अहिंसा का पालन केवल समर्थ कर सकते हैं।
१०. अहिंसा के लिए इच्छाओं का दमन करना पड़ता है।	१०. अहिंसा के लिए इच्छाओं का परिसीमन या परिष्कार करना होता है।
११. अहिंसा के लिए सुख छोड़ना आवश्यक नहीं।	११. परिग्रही व्यक्ति अहिंसक नहीं हो सकता।
१२. अहिंसा का फल परोक्ष है।	१२. अहिंसा का फल पर्यावरण की सुरक्षा जैसे सन्दर्भों में प्रत्यक्ष है।
१३. अहिंसा यथास्थितिवाद की समर्थक है।	१३. अहिंसा जीवन में आमूलचूल परिवर्तन माँगती है।

## विज्ञान

प्रचलित अवधारणा	सम्यक् अवधारणा
१. देश और काल की सत्ता पृथक्-पृथक् है।	१. देश और काल दोनों मिलकर एक युति बनाते हैं।
२. काल सर्वत्र एक जैसा है।	२. काल की लम्बाई गति-सापेक्ष है।
३. पदार्थ की लम्बाई, चौड़ाई सब स्थितियों में एक ही रहती है।	३. पदार्थ की लम्बाई, चौड़ाई पदार्थ की गति के साथ बदल जाती है।
४. हमें पदार्थ के स्वरूप को तर्क के अनुसार ढालना चाहिए।	४. हमें अपने तर्क को पदार्थ के स्वरूपानुसार ढालना चाहिए।
५. पदार्थ का द्रव्यमान सदा एक रहता है।	५. पदार्थ का द्रव्यमान गति के साथ बढ़ता है।
६. काल की दृष्टि से जो एक के लिए पूर्व (पहले) है वह सबके लिए पूर्व है।	६. काल की दृष्टि से जो एक के लिए पूर्व है वह दूसरों के लिए युगपत् है।
७. दो परस्पर विरोधी तथ्यों में एक ही सत्य हो सकता है।	७. स्थूल स्तर पर न्यूटन के सिद्धान्त सत्य है और सूक्ष्मस्तर पर आइंस्टीन के सिद्धान्त सत्य है, यद्यपि वे दोनों परस्पर विरोधी हैं।
८. सत्य द्वंद्वात्मक है।	८. एक द्वंद्वातीत सत्य भी है।
९. एक वक्तव्य या तो सत्य होता है या असत्य।	९. कोई भी वक्तव्य सम्यक् परिप्रेक्ष्य में सत्य होता है और मिथ्या परिप्रेक्ष्य में असत्य।

## शिक्षा

प्रचलित अवधारणा	सम्यक् अवधारणा
१. वर्तमान शिक्षा सर्वोत्तम है।	१. वर्तमान शिक्षा से बौद्धिक विकास होता है किन्तु भावनाएं परिष्कृत नहीं होतीं।
२. अध्ययन द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है।	२. व्यक्तित्व के निर्माण के लिए कुछ प्रयोगों का अभ्यास करना भी आवश्यक है। ये प्रयोग ही योग कहलाते हैं।

३. शिक्षा की सार्थकता इसमें है कि आजीविका जुटा दे।
४. ध्यान उनके लिए है जो मुमुक्षु है।
५. वीतरागता अध्यात्म का मार्ग है।
६. संकल्प करने से सफलता मिल जायेगी।
७. रोग की जड़ शरीर में है।
८. प्रवृत्ति और निवृत्ति में विरोध है।
९. अनुकूल निमित्त सफलता दिलाते हैं।
१०. भोग हमें पुष्ट करते हैं।
११. दमन हानिकारक है।
१२. सुविधाएं अभीष्ट हैं।
१३. तप व्यर्थ है।
१४. आध्यात्मिक तत्त्व परोक्ष है।
१५. सृष्टि जड़ से बनी है।
३. शिक्षा को एक ऐसा लक्ष्य भी प्रदान करना होता है जिसके प्रति विद्यार्थी अपने आप को समर्पित कर सके।
४. ध्यान लौकिक सफलता के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।
५. तटस्थ भाव के बिना हम लौकिक समस्याओं का भी ठीक समाधान नहीं खोज पाते।
६. संकल्प से सफलता तभी मिलती है जब संकल्प गहराई में उस अवचेतन मन तक पहुंचा हुआ हो जिस अवचेतन मन तक वह आदत पहुंची हुई है जिसे हम बदलना चाहते हैं।
७. रोग की जड़ मनोभावों में है।
८. कोरी प्रवृत्ति विक्षिप्तता उत्पन्न करती है। कोरी निवृत्ति निकम्मापन लाती है। दोनों में सामञ्जस्य चाहिए।
९. निमित्तों से मिलने वाली सफलता स्थायी नहीं है। स्थायी सफलता उपादान पर टिकी है।
१०. भोग हमारी प्राण-शक्ति का हास करते हैं।
११. यौन की स्वच्छन्दता विक्षेप का कारण है।
१२. सहिष्णुता आवश्यक है।
१३. तप शरीर के परमाणुओं को चुम्बकीय क्षेत्र में बदल देता है जिससे शरीर परदर्शी बन जाता है और चेतना बाहर झांक सकती है।
१४. हमारे अस्तित्व में मन, बुद्धि, प्राण आदि अनेक अंश सूक्ष्म हैं किंतु परोक्ष नहीं।
१५. सृष्टि का निर्माण प्राणियों के भीतर बैठी चेतना कर रही है।



इन विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा प्रचलित अवधारणाओं के स्थान पर दी गई अवधारणाओं की एक सूची बानगी के रूप में दी गई है। इस सूची का संबंध व्यवहार सम्बन्धी प्रथम खण्ड से है। जहाँ तक परमार्थ का संबंध है, इस ग्रंथ के परमार्थ खण्ड में दिए गए सभी सूत्र कोई न कोई अभिनव अवधारणा लिए हुए हैं। अतः इन्हें पृथक् रूप में नहीं दिया जा रहा है।

इन अवधारणाओं की सूची अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य महाप्रज्ञ के चिन्तन का पटल कितना व्यापक है और उनके द्वारा प्रदत्त अवधारणाएँ कितनी मौलिक हैं। इसी व्यापक पटल पर उनकी आवधारणाओं की मौलिकता को उकेरने का एक प्रारम्भिक एवं विनम्र प्रयास किया गया है।

---

पुस्तक	-	महाप्रज्ञ दर्शन
लेखक	-	प्रोफेसर दयानन्द भार्गव
प्रकाशन	-	जैन विश्वभारती, लाडनूं
मूल्य	-	200/-

डॉ. दयानन्द भार्गव  
C/o डॉ. श्रीमती रीना भार्गव  
रेल्वे क्वार्टर एम-101  
रेल्वे अस्पताल के पास, फुलेरा  
जिला - जोधपुर (राजस्थान)

# विद्युत् : सचित्त या अचित्त?

—आचार्य महाप्रज्ञ

भगवान महावीर का भारतीय दर्शन को एक मौलिक अवदान है— षड्जीवनिकाय का सिद्धान्त। जीवों के छह निकाय हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तैजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इनमें पहले पांच स्थावरकाय हैं। त्रसकाय गतिशील हैं। स्थानांगसूत्र में बतलाया गया है— पांच स्थावरकाय परिणत और अपरिणत—दोनों प्रकार के होते हैं, सचित्त और अचित्त—दोनों प्रकार के होते हैं। पृथ्वी सचित्त—सजीव भी होती है, अचित्त-निर्जीव भी होती है। जल सजीव और निर्जीव दोनों प्रकार का होता है। पानी बरसता है, वह सारा सचित्त है, ऐसा नहीं है। वह अचित्त भी हो सकता है, पर हमें पता नहीं लगता। अग्नि और वायुकाय भी सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के होते हैं।

एक नियम है—शस्त्र परिणत होने पर सचित्त अचित्त बन जाता है। सजीव, निर्जीव बन जाता है।

हमें विद्युत् के प्रश्न पर विचार करना है। विद्युत् सचित्त है या अचित्त?

आज बिजली का प्रयोग बहुत होता है। पूज्य गुरुदेव के शासनकाल में चिन्तन चला कि बिजली सजीव है या निर्जीव? पूज्य गुरुदेव बीदासर में विराज रहे थे। वहाँ तीन दिनों तक हजारों व्यक्तियों के बीच चिन्तन चला, पक्ष-विपक्ष में बहुत से तर्क आए। आखिर निर्णय हुआ कि बिजली सजीव नहीं है। बिजली ऊर्जा है, जीव नहीं है, विद्युत् को निर्जीव किस आधार पर माना गया? आखिर आधार क्या है? आधार दोनों हैं। आगम का आधार है। उससे भी बिजली निर्जीव सिद्ध होती है। वर्तमान के विज्ञान का तो है ही। विज्ञान ने तो इसे एक रासायनिक क्रिया माना है। अग्नि को भी जीव नहीं मानते तो भला बिजली का तो प्रश्न ही नहीं।

आगम के आधार पर विचार करें। तैजसकाय के पुद्गल पूरे लोक में व्याप्त हैं। आठ वर्गणाओं में एक वर्गणा है तैजस वर्गणा। उसके पुद्गल पूरे लोक में व्याप्त हैं। अग्नि कैसे होती है और अग्नि कहाँ होती है? इस पर आगम में विचार किया गया। बतलाया गया कि सजीव अग्नि तिर्यक् लोक में ही हो सकती है। न ऊँचे लोक में अग्नि है, न नीचे लोक में है। वहाँ अग्नि नहीं, ऊर्जा है। उसे अग्नि कहते हैं पर वास्तव में सचित्त अग्नि नहीं है। सचित्त अग्नि केवल मनुष्य लोक में, तिरछे लोक में ही हो सकती है। कह सकते हैं कि नरक लोक में तो बहुत तेज अग्नि है। सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि में वर्णन मिलता है कि नरक लोक में कोई नैरयक जीव है, उसे निकाल कर यहाँ की अग्नि में डाल दिया जाए तो उसे लगेगा कि जैसे हिमालय में डाल दिया गया हो। इतनी भयंकर अग्नि का ताप है वहाँ। पर वह निर्जीव है। सजीव नहीं है, क्योंकि तिरछे लोक से नीचे सजीव अग्नि होती नहीं है। इसीलिए सूत्रकृतांग में कहा गया— अगणी अकट्टो, बिना ईंधन की अग्नि, बिना काष्ठ की अग्नि। ‘अग्नि’ शब्द का प्रयोग तो किया गया है, पर वास्तव में अग्निकायिक जीव नहीं है। बिजली भी अग्निकायिक जीव नहीं है।

एक तेजोलेश्या सम्पन्न मुनि है, जिसे तेजोपलब्धि प्राप्त है, वह कभी क्रोध में आकर उसका प्रयोग करता है, जैसे गोशालक ने महावीर पर किया था। भगवान महावीर यात्रा कर रहे थे। गोशालक उनके साथ था। एक संन्यासी पंचाग्नि ताप रहा था, उसने छेड़छाड़ की। क्रोध में आकर उसने तेजोलेश्या का प्रयोग कर दिया। शक्ति का प्रयोग किया, जलने की स्थिति आ गई। लगा कि भस्म हो जाएगा। उसी समय भगवान महावीर ने शीतल लेश्या का प्रयोग कर उसे शान्त कर दिया। तेजोलब्धि की शक्ति इतनी है कि अनेक प्राणियों को वह भस्म कर सकती है। एक अणुबम से भी अधिक शक्तिशाली तेजोलब्धि का प्रयोग है। किन्तु वह सारा पुद्गल है, अजीव है, निर्जीव है। अब उसे अग्नि कह दें या आज की भाषा में विद्युत्। वह सजीव नहीं है।

बिजली अग्नि नहीं है, इसका एक कारण तो यह है कि वह बिना वायु के जलती है। भगवती सूत्र में कहा गया है— ‘न विना वाऊकाएण अग्नी पज्जलई।’ वायु के बिना अग्नि जलती नहीं है। अग्नि को हमेशा ऑक्सीजन चाहिए। वायु नहीं मिलेगी, अग्नि नहीं जलेगी। ऊर्जा होगी, किन्तु अग्नि नहीं जलेगी। जहाँ बिजली का प्रसंग है, वहाँ वैक्यूम करना होता है। वायु का निष्कासन जरूरी है वहाँ। वहाँ ऑक्सीजन का सुयोग मिल जाए तो वह आग का रूप ले सकती है। किन्तु जहाँ ऊर्जा है, वहाँ अग्नि नहीं है। सूर्य का ताप कितना भयंकर होता है। आज तो सौर ऊर्जा का प्रयोग भी होने लगा है। चूल्हा भी जलता है, रसोई भी बनती है और भी अनेक कार्य होते हैं पर वह सारी निर्जीव अग्नि है। वह सजीव अग्नि नहीं है। विद्युत् है, अग्नि नहीं है। सौर ऊर्जा या जो भी ऊर्जा है, वह तैजस् परमाणु है यानी तैजस वर्गणा है, परमाणु है। इसलिए आगम में इन्हें अग्निदृश द्रव्य कहा गया है, अग्निद्रव्य। अग्नि जैसा द्रव्य है, इसलिए इसका नाम अग्नि रखा गया है।

जयाचार्य ने भगवती की व्याख्या में कहा — अग्निद्रव्य सरिस — अग्नि जैसा द्रव्य । यह अग्निकायिक जीव नहीं है । विद्युत् एक ऊर्जा का प्रवाह है । यह सारा निर्णय हो गया । इस निर्णय के आधार पर फिर गुरुदेव ने यह घोषणा भी कर दी कि बिजली हमारी दृष्टि में अचित्त है, निर्जीव है । शास्त्रार्थ के अनेक आधारों पर यह सिद्ध हो गया कि अग्नि जीव नहीं, मात्र ऊर्जा है । तैजस वर्गणा के पुद्गल हैं, इसलिए निर्जीव है । यह हमारी मान्यता है ।

जैनों में भी कुछ लोग इसे सजीव मानते हैं । यह तो अपना-अपना विचार है । अगर कोई खोज न करे तो परम्परा से जो चल रहा है, वह माना जाता है । हमने तो चिन्तन किया, खोज की, अनुसंधान किया, प्रमाण ढूँं और आगम के इतने प्रमाण उपलब्ध किए, जिनके आधार पर यह स्थापना करने में हमें कोई संकोच नहीं हुआ । यह कोई संशय में नहीं किया गया कि अग्नि अचित्त है या नहीं? अनुसंधान के आधार पर अच्छी तरह निश्चित हो गया कि यह मात्र पुद्गल है, ऊर्जा है, एक शक्ति है, अग्निकायिक जीव नहीं है । अब अपनी-अपनी परम्परा होती है । कुछ लोग ध्यान नहीं देते तो क्या कहा जाए? हाथ में घड़ी बंधी है तो कहते हैं कि सजीव है । घड़ी में बैट्री है क्या? ऊर्जा का एक स्पन्दन ही तो है । जुगनू चमकता है तो आग जैसा लगता है, किन्तु वह आग तो नहीं है । औरों की बात छोड़ दें, हमारे शरीर में भी अग्नि है, पर वह सजीव नहीं, निर्जीव अग्नि है । हमारे शरीर में भी पौद्गलिक अग्नि है । आयुर्वेद को जानने वाला जठराग्नि को जानता है । भोजन करते हैं, वह किससे पचता है? जठराग्नि से पचता है । हमारे जठर यानी पेट की जो अग्नि है, उससे हमारा भोजन पचता है । जब कोई बीमार होता है तो वैद्य उसकी परीक्षा कर कभी-कभी कहते हैं — इसकी अग्नि मंद हो गई है । खाया हुआ पच नहीं रहा है । अग्नि जब तक ठीक रहे, भोजन का ठीक पाचन होता है, वह मंद हो जाए तो भोजन का पाचन नहीं हो पाता । हमारे शरीर में भी अग्नि है, विद्युत् है । शरीरशास्त्र की दृष्टि से देखें तो हर कोशिश का अपना पावर हाउस है । अरबों कोशिकाएँ हैं और हर कोशिका का अपना पावर हाउस है । इतनी अग्नि भरी पड़ी है शरीर के भीतर । यह बड़ी अद्भुत बात है कि शरीर की अग्नि कभी लीक नहीं होती । यदि हो जाए तो पूरे शरीर में जलन हो जाती है । शरीर अंगारा जैसा हो जाता है । ऐसे कई केस प्रेक्षाध्यान शिविरों में आए कि शरीर पूरा जलने लग गया ।

हमारे शरीर में भी अग्नि है । यह सब तैजस वर्गणा के परमाणु हैं, पुद्गल हैं । अब प्रश्न है कि चाहे माइक हो, चाहे घड़ी हो, हम उसे सचित्त नहीं मान सकते । आगम के आधार पर उसे सजीव नहीं सिद्ध किया जा सकता । इसलिए पूरी स्पष्टता रहे । बहुत से भाई आते हैं और कहते हैं कि घड़ी बँधी हुई है, संगट्टा करें या न करें? घड़ी हाथ में बंधी हुई है, आहार-पानी बहराएँ या न बहराएँ? नहीं बहराओ तो आपकी इच्छा । हमें कोई आपत्ति नहीं है । वंदना करने में स्पर्श करो या नहीं, आपकी इच्छा । हमें कोई सैद्धान्तिक आपत्ति नहीं है, क्योंकि उसे हम सजीव नहीं, मात्र ऊर्जा मानते हैं ।

एक कठिनाई जरूर है हमारे सामने । परम्पराएँ अलग-अलग होती हैं, आचार्य अलग-अलग होते हैं । मैं जो मानता हूँ, यह बात सही है, जो मैं नहीं मानता, वह सारा गलत

है, ऐसा भ्रम पैदा कर देते हैं। यह कोई संगत बात नहीं है। पहले खोज करनी चाहिए, अनुसंधान करना चाहिए। हमारे सामने प्रश्न आया। कुछ कन्याओं ने महाश्रमणजी से प्रश्न पूछा कि काजू-बादाम देना सन्तों को कल्पता है या नहीं? अब यह सिद्धान्त कहां से आया? सिद्धान्त तो एक ही है कि जो शाकाहार है, शुद्ध भोजन है, जो निर्जीव है, वह साधु के लिए कल्पता है। चाहे काजू हो, चाहे बादाम हो, चाहे बाजरे की रोटी हो। अचित्त सारा कल्पता है। जो शाकाहार है, भक्ष्य है, अभक्ष्य नहीं है, वह सारा कल्पता है। कोई नहीं खाए, अच्छी बात है। कोई फलका नहीं खाए तो और अच्छी बात है। अभी यहां एक संन्यासी आया था। पता चला कि वह कई वर्षों से अन्न नहीं ले रहा है। साधना की दृष्टि से वह प्रयोग कर रहा है, यह अच्छी बात है। हम यह नहीं कहते कि सारा ही खाना है। पर लेने में दोष कहा जाए, यह गलत बात है। कोई दोष नहीं है। हमारे बहुत से साधु-साध्वियां हैं, जो छह विगय नहीं खाते। न दूध, न दही, कुछ भी नहीं खाते। अच्छी बात है। अपनी-अपनी साधना है। खाद्य-संयम करें, त्याग करें, इसमें आपत्ति नहीं, यह तो बड़ी अच्छी बात है। पर यह कहें कि दूध पीना दोषपूर्ण बात है, यह एक तरह की भ्रान्ति पैदा करना है। ऐसा नहीं करना है, दोष नहीं बतलाना है।

आचारांग सूत्र की टीका में एक बहुत सुन्दर बात कही गई है। एक मुनि ऐसा है जो अचेत रहता है और एक मुनि ऐसा है जो एक वस्त्र रखता है। एक मुनि ऐसा है जो दो वस्त्र रखता है और एक मुनि ऐसा है जो तीन वस्त्र रखता है। अब एक वस्त्र रखने वाला यह कहे कि दो वस्त्र रखने वाला ढीला है तो यह एकान्ततः मिथ्या बात है। मुनि को ऐसा कहना कल्पता नहीं है। साधना के अनेक प्रकार हैं। कौन-सा रास्ता चुनें? जैनों में और दूसरे भी बहुत से लोग क्रियाकाण्डों में उलझे रहते हैं। उन्हें यह सोचने को भी समय नहीं है कि अध्यात्म का कैसे विकास करें? विचार नहीं करते, यह उनकी इच्छा है, पर उन्हें इस बात का दोष क्यों दें कि वे अध्यात्म पर कोई विचार नहीं करते? किसी की रुचि तपस्या करने में है, किसी की उपवास करने में है। किसी की रुचि सामायिक करने में है, किसी की स्वाध्याय करने में है तो किसी की माला जपने में। अब उन्हें दोषी क्यों कहा जाए? साधना के क्षेत्र में अपनी-अपनी रुचि है।

प्रश्न है कल्प और अकल्प का, सचित्त और अचित्त का। यह निर्णय हमारा स्पष्ट होना चाहिए कि सचित्त है या अचित्त? जब सिद्ध हो जाता है कि सचित्त नहीं है तो फिर लें या न लें, करें या न करें, अपनी-अपनी इच्छा है। किन्तु सिद्धान्ततः हमें यह समझ लेना है, जिससे भ्रान्ति न रहे। हम जानते हैं, कुछ रासायनिक क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनके बारे में आज वैज्ञानिक जगत में जितना स्पष्ट हुआ है, शायद धार्मिक जगत में उतना स्पष्ट नहीं था। जैन दर्शन में तो ऊर्जा के बारे में बहुत विस्तार से वर्णन है। पर उनके बारे में जैन मुनि ही ठीक से नहीं जानते तो औरों की तो बात ही क्या? जैन दर्शन में आठ वर्गणाएँ और बयालीस वर्गणाएँ हैं वे। किस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म वर्गणाएँ हैं, उनकी जानकारी नहीं है किसी को। यह ध्यान में रहे कि थोड़ा-सा पढ़ लेने से इनका पूरा ज्ञान भी नहीं होता। बहुत व्यापक और

गंभीर अध्ययन करने पर कुछ सच्चाइयां सामने आती हैं। इसलिए सबके मन में बहुत स्पष्ट रहे कि गुरुदेव ने जो बहुत अनुसंधान और खोज के बाद निर्णय दिया था कि बिजली संचित नहीं है, अचित्त है। इसलिए चाहे इलैक्ट्रॉनिक के उपकरण हों आपके पास, चाहे घड़ी हो या कोई और उपकरण। वहां हमारी स्पष्ट धारणा है कि इनका उपयोग कर हम कोई दोष नहीं कर रहे हैं। ऐसा करने में कोई अग्रिकायिक जीव की हिंसा नहीं हो रही है।

परम्परा की बात बड़ी विचित्र होती है। मैं तो यह सोचता हूँ कि हमारे जैन विद्वानों और जैन मुनियों को परम्परा के साथ-साथ थोड़ा गंभीर अध्ययन और गंभीर अनुसंधान की बात भी जोड़नी चाहिए। जैनधर्म और दर्शन के इतने बड़े तत्त्व, किन्तु अनुसंधान के अभाव में हम कुछ बता न सकें, यह चिन्तनीय बात है। अब जैसे-जैसे इन पर काम हो रहा है, खोज हो रही है, यहां के और विदेशी विद्वानों के द्वारा बहुत-सी बातें सामने आ रही हैं तो अब लग रहा है कि इतनी बड़ी सच्चाइयां हैं, जो अभी तक हमारे सामने नहीं आई थीं। विश्वविद्यालय की कुलपति सुधामहीजी ने दिल्ली में अनेकान्त पर भाषणमाला का आयोजन किया, उस भाषणमाला में पहला भाषण संस्थान के कुलाधिपति श्री लक्ष्मीमल्ल सिंघवी का था। एक ईसाई विद्वान् जो पादरी था, उसने एक प्रस्ताव रखा कि यह सिद्धान्त इतना ऊँचा है कि अब आपको एक ग्लोबल इंस्टीट्यूट की स्थापना करनी चाहिए, जिससे पूरे विश्व को पता चले कि अनेकान्त कितना महत्त्वपूर्ण है। आवश्यकता है कि हम लोग थोड़ी दिशा बदलें और आज के वैज्ञानिक साधन, आगमिक साधन और अन्य दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद कुछ ऐसे निष्कर्ष निकालें, स्थापना करें जो सारी मानव जाति के लिए कल्याणकारी हो सकें। केवल परंपरा के नाम पर यह न कहें कि हम ऐसा नहीं मानेंगे। आपकी इच्छा है, मत मानो, पर वह दूसरों के लिए प्रमाण नहीं हो सकता। मैं मानूं या नहीं मानूं, पर प्रमाण तो वही होगा जो युक्तिसंगत, तर्कसंगत और सिद्धान्तपरक हैं, प्रमाणित हैं।

परम्परा की बात अलग है। दो-तीन युवक साथ में जा रहे थे। एक ने पूछ लिया- आपने जो यह अंगरखा पहन रखा है, वह तो बहुत पुरानी परम्परा है। उसने कहा, यह मेरे कुल की परम्परा है। परम्पराएँ चलती हैं, पर सार्थक वही है, जिसकी प्रामाणिकता सिद्ध हो, जो उपयोगी हो, अन्यथा वह मात्र बाधा ही बनकर रह जाती है। फिर पूछा-आजकल तो दाढ़ी और बाल छोटा रखने की परम्परा है। तुमने तो बाल बढ़ा रखे हैं। उसने कहा-यह मेरे कुल की परम्परा है। न मेरे बाप ने शादी की, न मेरे दादा ने की। अब देखें, इस तरह की परंपरा में कितना विरोधाभास आ जाता है। कोरी परम्परा की दुहाई कहां तक देते रहेंगे?

हमें परम्परा का सम्मान करना है, उसे छोड़ना नहीं है बल्कि उसी परंपरा को नहीं छोड़ना है जिसका कोई अर्थ है, जिसकी कोई सार्थकता है। एक आदमी का पिता दिवंगत हो गया। उसका क्रम था कि रोज सवेरे उठकर वह आले के पास जाता था। पुत्र भी गया। पिता आले के पास क्यों जाता था, पुत्र को पता नहीं, फिर भी वह गया और रोज का उसका यह क्रम बन गया। किसी ने पूछ लिया-भोजन के बाद तुम आले के पास क्यों जाते हो? उसने कहा-मेरे पिताजी भी जाते थे और वे क्यों जाते थे, यह भी मुझे पता है। उनके दांत में छिद्र

थे। दांतों की सफाई के लिए आले में तिनके रखते थे, उसे लेने के लिए वे वहां जाते थे। प्रश्नकर्ता ने प्रतिप्रश्न किया — किन्तु तुम्हारे लिए वहां जाना क्या अनिवार्य है? वह बोला—यह मैं नहीं जानता। पिताजी ऐसा करते थे, इसलिए मैं भी ऐसा करूँगा। यह एक अर्थहीन रूढ़ि है। मात्र निरर्थक परंपरा है।

एक होती है आर्थिक परम्परा और एक होती है अर्थहीन परंपरा। सार्थक परंपरा को चलाना बहुत जरूरी है, उसके बिना काम नहीं चलेगा, किन्तु वह परम्परा सार्थक होनी चाहिए। अर्थहीन परम्परा का भार ढोना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

बहुत सारे सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनकी आज के वैज्ञानिक युग में समीक्षा करना बहुत जरूरी हो गया है। कर्म का सिद्धान्त, जीव का सिद्धान्त, यह सब बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। बहुत वर्ष पहले की बात है। हम भीनासर में थे। रात्रि में एक प्रोफेसर आया। था तो तेरापंथी श्रावक ही पर वह वैज्ञानिक सोच वाला व्यक्ति था। उसने आकर कहा—आप लोग जीव की बात बतलाते हैं, पर जब तक बायोलोजी का गहरा अध्ययन नहीं होगा, तब तक आपकी बात चलेगी नहीं। मैंने कहा—तुम्हारी बात ठीक है। हम दोनों का तुलनात्मक अध्ययन कर रहे हैं। हमने उसे सारी बात बताई। उसने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा—यह अच्छी बात है। ऐसा होना ही चाहिए। आज क्लोनिंग की बात सामने आई है। ऐसे में कहां टिकेगा हमारा कर्मवाद और जीववाद। बड़ा विचित्र प्रश्न है। जहां आदमी भेड़ और बकरी पैदा कर सकता है और हॉल में ही किसी वैज्ञानिक ने कम्प्यूटर की टेक्नोलोजी का उपयोग करते हुए आदमी को ही कम्प्यूटर बना दिया। जहां ऐसी नित नई वैज्ञानिक प्रगतियां और खोजें हो रही हों, वहां हमारे धार्मिक जगत के लोग केले के छिलके पर ही अटके रहें, यह कहां की युक्तसंगत बात है? बिना अन्वेषण के हम कहीं पहुंच नहीं पाएंगे। आज का पढ़ा-लिखा आदमी उनकी बात को मानने के लिए तैयार भी नहीं होगा। हमें बहुत ध्यान देना होगा। अगर आज जैनधर्म की विश्व में दो-चार बड़ी लेबोरेट्रियां होतीं, वहां नए और पुराने सिद्धान्तों पर प्रयोग और प्रशिक्षण चलते तो नए-नए सिद्धान्तों का विकास होता। तब वह सजीव दर्शन होता। आज तो बिना प्रयोग और खोज के उसे सजीव कहने में भी संकोच का अनुभव हो रहा है। बस, केवल दुहाई देने के सिवाय और कुछ भी हमारे पास नहीं है। हमको चिन्तन करना है कि इस दिशा में क्या किया जाना चाहिए?

मैं बहुत छोटा था, तब यह प्रश्न आता था कि अब साम्यवाद आ गया, ऐसे में कर्मवाद का क्या होगा? मैं बड़े विश्वास के साथ कहा करता था कि चिन्ता की कोई बात नहीं। इससे कर्मवाद की मान्यता झूठी नहीं हो जाएगी। कर्मवाद का सिद्धान्त कायम रहेगा। बड़े हुए तो और भी बहुत से प्रश्न सामने आए और अब यह जीन का प्रश्न सामने है। एक-एक कोशिका के द्वारा नए-नए जीव पैदा करने का, क्लोन का, कृत्रिम गर्भाधान का। पिछले वर्ष क्लोन के प्रश्न पर हमारे साधु-साध्वियों ने कहा—हमारी मान्यताओं से इसकी संगत कैसे बैठेगी? मैंने कहा—चिन्ता की कोई बात नहीं। हमारी खोजें और अनुसंधान जो इस दिशा में चल रहे हैं, कोई समाधान अवश्य देंगे। हम इन विधियों को पहले से जानते हैं। एक जैन ग्रन्थ था—जोणी पाहुड़। पूर्व का एक अंग है—जोणी पाहुड़। उस ग्रन्थ में सचित द्रव्यों की, वस्तुओं की योनियां

वर्णित हैं। इसी आधार पर आचार्य सिद्धसेन ने सेना का निर्माण किया था। जब राजा पर विरोधी सेना ने आक्रमण कर दिया तो असहाय राजा सिद्धसेन के पास आकर बोला-अब आप ही कोई उपाय करें। सिद्धसेन ने इसी विधि के आधार पर तालाब से घुड़सवार पैदा कर दिए। आक्रमणकारी सेना भाग गई। विधान है कि योनिप्राभृत के सिद्धान्त का पारायण रात्रि के उस प्रहर में हो, जब कोई सुन न पाए। आचार्य एक बार रात्रि में शिष्य को पढ़ा रहे थे। रात्रि में बारह बजे के बाद कोई व्यक्ति आ गया। वे बता रहे थे कि अमुक प्रयोग किया जाए तो तालाब में मछलियां ही मछलियां पैदा हो जाएंगी। उसने सुन लिया। दूसरे दिन देखा गया कि तालाब में मछलियां ही मछलियां हो गई हैं। प्रश्न हुआ कि यह कैसे हो गया? पता चला कि किसी ने उस विधि को सुन लिया है।

क्लोन की बात हमारे लिए कोई चिन्ता की बात नहीं है। पर सब विषयों में हमारा ज्ञान, खोज, रिसर्च होनी चाहिए। सिर्फ परम्परा के आधार पर कोई समाधान नहीं प्राप्त होगा। हमारे सामने ऐसे बहुत सारे प्रश्न आते हैं, इसलिए हमने व्याख्यान में इसका उल्लेख किया, जिससे सबको ज्ञात रहे।

अभी-अभी एक प्रश्न आया कि विद्युत् संचित नहीं है तो क्या एक साधु स्विच को चालू कर सकता है या बन्द कर सकता है? यह व्यवहार की बात है। प्रयोग करना या न करना, यह हमारे व्यवहार की बात है। हम कितना प्रयोग करें, कितना न करें? इस सन्दर्भ में अभी नहीं कह सकते। वर्जित है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विद्युत् को हम संचित मानते हैं। पर प्रयोग करने में विवेक से काम लेते हैं कि कितना व्यर्थ का काम होता है, कितना सार्थक काम होता है। दो बातें हो गई-सिद्धान्त और व्यवहार। व्यवहार में कितना काम में लेना, यह अलग बात है। व्यवहार में बहुत सारी बातें वर्जित भी होती हैं। यह खाना, यह नहीं खाना। ऐसे में सिद्धान्त को प्रयोग में लाएं तो बड़ी विचित्र बात हो जाती है। सिद्धान्ततः विहित है, पर व्यवहार में बहुत सारी वर्जित हैं, क्योंकि स्विच को ऑन और ऑफ करने में बहुत सारी समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। इसलिए अभी व्यवहार में इसे नहीं लेते। किन्तु सिद्धान्ततः यही बात मान्य है कि विद्युत् संचित नहीं है।

हम ऐसा नहीं करते, इसलिए यह बात गलत है, ऐसा नहीं होना चाहिए। गलत या सही होने का आधार या तो आगम हैं या दूसरे ऐसे कोई तथ्य, जिनके आधार पर यह मानना पड़े कि यह बात सही नहीं है। अपनी परम्परा निभाओ, किन्तु दूसरों पर आरोपित मत करो कि हम जो कर रहे हैं, वह तुम नहीं करोगे तो गलत होगा। तुम्हारी इच्छा है तो बाजरी की रोटी के अतिरिक्त कुछ मत खाओ। जिस व्यक्ति को जमीन के नीचे पानी देखना है, उसके लिए प्राचीन योग का नियम है कि छह महीने तक बाजरी के सिवाय और कुछ न खाएँ। तभी वह शक्ति, वह दृष्टि पैदा होती है। यह अपनी साधना है, अपना प्रयोग है। अपनी-अपनी रुचि है, पसन्द है। हम किसी की रुचि को प्रतिबन्धित या नियन्त्रित करना नहीं चाहते। प्रश्न है सिद्धान्त का। सिद्धान्त क्या कहता है? इस पर हमें विचार करना है। इसी आधार पर हमारा निर्णय होना चाहिए।

(आचार्य श्री महाप्रज्ञ द्वारा प्रदत्त प्रवचन विज्ञप्ति 14-20 अप्रैल, 2002)



## विद्युत् : सचित्त या अचित्त? आगमों के आधार पर —

### आचार्य महाप्रज्ञ

विद्युत् सचित्त है या अचित्त? इस विषय का चिन्तन बहुत वर्ष पहले हुआ। अनेक साक्ष्यों के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुंचे कि विद्युत् सचित्त नहीं है। यह निर्णय पूज्य आचार्यश्री तुलसी की सन्निधि में हो गया था। वह निर्णय हमारे पास सुरक्षित था। हमने उसका विशेष प्रचार भी नहीं किया। इन चार-पांच वर्षों में हमारे सामने कुछ प्रश्न, कुछ जिज्ञासाएँ और कुछ समस्याएँ आईं, इसलिए हमें अनेक बार उनका समाधान करना पड़ा। बिजली को अचित्त बताने के लिए हमने कोई अभियान शुरू नहीं किया है, किन्तु आने वाले प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया है।

कुछ जैन मुनि विद्युत् (बैटरी) द्वारा संचालित घड़ी का स्पर्श नहीं करते। जिसके हाथ में वैसी घड़ी बंधी हो, उसके हाथ से भिक्षा नहीं लेते। वैसी घड़ी को बांधकर व्यक्ति सामायिक भी नहीं कर सकता, साधुओं का चरण-स्पर्श भी नहीं कर सकता। तेरापंथ में बैटरी संचालित घड़ी का स्पर्श करना वर्जित नहीं है और सामायिक करना भी वर्जित नहीं है। इस द्वैध के विषय में हमारे सामने प्रश्न आए तब हमें उसका समाधान करना आवश्यक लगा और हमने किया भी।

विद्युत् के संदर्भ में हमने सचित्त-अचित्त के प्रश्न पर समग्रता से विमर्श किया है।

### विद्युत् : सचित्त या अचित्त ?

वर्तमान युग बिजली का युग है। इस विषय में दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—

1. बिजली अग्नि है या नहीं?
2. बिजली सचित्त है या अचित्त?

इस विषय पर विभज्यवादी शैली से विचार करना आवश्यक है।

- अग्नि के मुख्य धर्म पांच हैं—1. ज्वलनशीलता, 2. दाहकता, 3. ताप, 4. प्रकाश, 5. पाक शक्ति।

नरक में जो अग्नि है वह ज्वलनशील भी है (सूयगड़ो 1/5/11)। दाहक भी है (सूयगड़ो 1/5/12)। उसमें ताप (सूयगड़ो 1/5/13) और प्रकाश भी है (सूयगड़ो 1/5/14)। पाक शक्ति भी है (सूयगड़ो 1/5/15)। फिर भी वह निर्जीव है, अचित्त है।

सजीव अग्रिकाय सिर्फ मनुष्य क्षेत्र में होता है। मनुष्य क्षेत्र से बाहर सजीव अग्नि नहीं होती। उसे सूत्रकृतांग में अकाष्ठ अग्नि-ईंधन के बिना होने वाली अग्नि बताया गया है। (सूयगड़ो 1/5/38)

मनुष्य लोक में भी अचित्त अग्नि होती है। उसका उदाहरण है तेजालेश्या। भगवती के एक प्रसंग से यह विषय स्पष्ट होता है—

— भंते ! क्या अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं? उद्योतित करते हैं? तप्त करते हैं? प्रभासित करते हैं?

— हां, करते हैं।

— भंते ! वे कौन-से अचित्त पुद्गल वस्तु को अवभासित करते हैं? उद्योतित करते हैं? प्रभासित करते हैं?

कालोदायी ! क्रुद्ध अनगार ने तेजोलेश्या का निसर्जन किया। वह दूर जाकर दूर देश में गिरती है, पार्श्व में जाकर पार्श्व देश में गिरती है। वह जहां-जहां गिरती है, वहां-वहां उसके अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं, उद्योतित करते हैं, तप्त करते हैं और प्रभासित करते हैं। कालोदायी ! इस प्रकार वे अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं, उद्योतित करते हैं, तप्त करते हैं और प्रभासित करते हैं। ( भगवई 7/229-230 )

कुछ विचारक कहते हैं-इसमें विद्युत् का नाम नहीं है। प्रश्न नाम होने का नहीं है। मूल प्रतिपाद्य यह है-अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं, तप्त करते हैं। उस स्थिति में यह व्याप्ति नहीं बनती कि जिसमें दाहकता है, प्रकाश है, ताप है, वह सचित्त ही होता है।

नरक में होने वाली अग्नि, तेजोलेश्या के प्रयोग के समय निकलने वाली ज्वाला जैसे अचित्त अथवा निर्जीव अग्नि है वैसे ही विद्युत् भी अचित्त और निर्जीव अग्नि है, यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। वास्तव में अचित्त अग्नि तैजस् ऊर्जा है, तैजस् वर्गणा के पुद्गल हैं। षड्जीवनिकाय में आने वाला सजीव अग्निकाय नहीं है।

भगवती वृत्ति में तेजोलेश्या को अग्निसृदश द्रव्य कहा गया है। ( भ. वृ. पत्र 642. तदग्नि सदृश द्रव्यान्तराऽपेक्षयावसेयं संभवन्ति तथाविध शक्तिमन्ति द्रव्याणि तेजोलेश्या-द्रव्यवदिति। )

विद्युत् अग्नि है या नहीं-इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें भगवती के उस नियम को भी ध्यान रखना चाहिए-वायुकाय के बिना अग्निकाय प्रज्वलित नहीं होता।

**न विणा वाऊकाएण अगणिकाए उज्जलति। ( भगवई 16/5 )**

**निष्कर्ष-**

उक्त विवरण का निष्कर्ष यह है-विद्युत् ऊर्जा है। इसे काष्ठविहीन अग्नि भी कहा जा सकता है। जैसे तेजोलेश्या के प्रयोग के समय तेजोलब्धि संपन्न व्यक्ति के मुख से निकलने वाली ज्वाला को अग्नि कहा जा सकता है, वैसे ही विद्युत् को अग्नि कहा जा सकता है।

जैसे नरक में होने वाली ऊर्जा को अग्नि कहा गया है, वैसे ही विद्युत् की ऊर्जा को अग्नि कहा जा सकता है। जैसे तेजोलेश्या के तैजस परमाणुओं से उत्पन्न ऊर्जा अचित्त है और जैसे नरक में होने वाले तैजस परमाणुओं की ऊर्जा अचित्त है, वैसे ही विद्युत् की तैजस परमाणुओं से उत्पन्न ऊर्जा अचित्त है।

विद्युत् सचित्त है या अचित्त? यह कोई हमारे आग्रह का विषय नहीं है। विद्युत् का प्रयोग व्यावहारिक है या अव्यावहारिक? इस प्रश्न पर चिन्तन करना हमारे अधिकार का विषय नहीं है। सब अपनी परम्परा को मानने और उसके अनुसार व्यवहार करने में स्वतंत्र हैं। हमारा प्रतिपाद्य इतना ही है कि व्यवहार और अव्यवहार की समस्या के आधार पर यथार्थ को नहीं बदला जा सकता।

यद्यपि प्रस्तुत लेख में आगम के साक्ष्य उद्धृत किए गए हैं, फिर भी संलग्न रूप में आगम, चूर्ण और वृत्ति के कुछ उद्धरण प्रयुक्त करना अपेक्षित मानता हूँ।

**बादर तैजसकाय मनुष्य क्षेत्र से बाहर नहीं—**

कहि णं भंते ! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! सट्ठाणेणं अंतोमणुस्सखेत्ते अट्ठाइज्जेसु दीव-समुद्देसु निव्वाघाएणं पण्णरससु कम्मभूमिसु, वाघायं पडुच्च पंचसु महाविदेहेसु, एत्थ णं बादरतेउक्काइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ।

उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । ( पण्णवण्णा 2/7 )

— भंते ! पर्याय बादर तैजसकायिक जीवों के स्थान कहाँ प्रज्ञप्त हैं ?

— गौतम ! स्वस्थान की अपेक्षा बादर तैजसकायिक जीवों का क्षेत्र मनुष्य क्षेत्र से कुछ न्यून है। निर्व्याघात स्थिति में अट्ठाई द्वीप समुद्रों और पन्द्रह कर्मभूमियों में है। व्याघात स्थिति में वे पांच महाविदेह क्षेत्रों में है। पर्याय बादर तैजसकायिक जीवों का यह अन्तःक्षेत्र प्रज्ञप्त है।

उपपात की अपेक्षा बादर तैजसकायिक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में, समुद्घात की अपेक्षा से तैजसकायिक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में, स्वस्थान की अपेक्षा बादर तैजसकायिक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं।

**अचित्त पुद्गल : प्रकाश और ताप**

अत्थि णं भंते ! अच्चित्ता वि पोग्गला ओभासंति? उज्जोवेत्ति? तवेत्ति? पभासेत्ति?

हंता अत्थि ।

कयरे णं भंते ! ते अच्चित्ता वि पोग्गला ओभासंति? उज्जोवेत्ति? तवेत्ति? पभासेत्ति?

कालोदाई ! कुद्धस्स अण्णगारस्स तेय-लेस्सा निसट्ठा समाणी दूरं गता दूरं निपतति, देसं गता देसं निपतति, जहिं जहिं च णं सा निपतति तहिं-तहिं च णं ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति, उज्जोवेत्ति, तवेत्ति, पभासेत्ति । एतेणं कालोदाई !

ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति, उज्जोवेत्ति, तवेत्ति, पभासेत्ति । ( भगवई 7/229, 230 )

- भंते! क्या अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं? उद्योतित करते हैं? तप्त करते हैं? प्रभासित करते हैं?
- कालोदायी! क्रुद्ध अनगर ने तेजोलेश्या का निसर्जन किया, वह दूर जाकर दूर देश में गिरती है, पार्श्व में जाकर पार्श्व देश में गिरती है। वह जहां-जहां गिरती है, वहां-वहां उसके अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं, उद्योतित करते हैं, तप्त करते हैं और प्रभावित करते हैं। कालोदायी! इस प्रकार वे अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं, उद्योतित करते हैं, तप्त करते हैं और प्रभावित करते हैं।

### अग्नि नहीं, अग्नि सदृश द्रव्य

तत्थ णं जे से विग्गहगति समावन्नए नेरइए से णं अगणिकायस्स मज्झंमज्जेणं वीइवएज्जा। ( भगवई 14/54, 55 )

नारकक्षेत्रे बादरागिनकायस्याभावात्, मनुष्यक्षेत्रे एव तद्भावात्, यच्चोत्तराध्ययनादिषु श्रूयते-हुयासणे जलन्तंमि दड्ढुपुव्वो अणेगसो। इत्यादि तदग्रिसदृशद्रव्यान्तरापेक्षयावसेयं, संभवन्ति च तथाविधशक्तिमन्ति द्रव्याणि तेजोलेश्याद्रव्यवदिति। ( भगवई टीका 14/54, 55 )

### वायु के बिना अग्नि नहीं जलती

न विणा वाऊयाएणं अगणिकाय उज्जलति। ( भगवई 17/5 )

### अचित्त अग्नि

इंगालरासिं जलियं सजोइं, तओवमं भूमिमणुक्कमंता।

ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोइया तत्थ चिरट्ठिईया ॥ ( सूयगडो 5/1/7 )

वे जलती हुई ज्योति सहित अंगारराशि के समान भूमि पर चलते हैं। उसके ताप से जलते हुए वे चिल्ला चिल्लाकर करुण क्रन्दन करते हैं। वे चिरकाल तक उस नरक में रहे हैं।

### इंगालसिं-

जधा इंगालरासी जलितो धगधगेति एवं ते नरकाः स्वभावोष्णा एव ण पुण तत्थ बादरो अग्गी अत्थि, उसिणपरिणता पोगगला जंतवाडचुल्लेओ वि उसिणतरा। ( सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 128 )

तत्र बादराग्रेरभावात्तदुपमां भूमिमित्युक्तम्, एतदपि दिग्दर्शनार्थमुक्तम्, अन्यथा नारकतापस्येहत्याग्निना नोपमा घटते, ते च नारका महानगरदाहाधिकेन तापेन दह्यमाना। ( सूत्रकृतांग वृत्ति. पत्र 129 )

विधूमो नामाग्निरेव, विधूमग्रणाद्, निरिन्धनोऽग्निः स्वयं प्रज्वलितः सेन्धनस्य ह्यग्रेरवश्यमेव धूमो भवति। ( चूर्णि, पृ. 136 )

वैक्रियकालभवा अग्रयः अघट्टिता पातालस्था अप्यनवस्था। ( चूर्णि, पृ. 137 )

नरक में बादर अग्नि नहीं होती। वहां के कुछ स्थानों के पुद्गल स्वतः उष्ण होते हैं। वे भट्टी की आग से भी अधिक ताप वाले होते हैं। वे अचित्त अग्निकाय के पुद्गल हैं। हमारी अग्नि से उस अग्नि की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि वहां अग्नि का ताप महानगरदाह की अग्नि से उत्पन्न ताप से बहुत तीव्र होता है।

पैंतीसवें तथा अड़तीसवें श्लोक में भी बिना काठ की अग्नि का उल्लेख है। उसकी उत्पत्ति वैक्रिय से होती है। यह अचित्त अग्नि है।

केंसि च बंधितु गले सिलाओ, उदगंसि बोलेति महालयंसि।

कलंबुयावावालयमुम्मुरे य, लोलेंति पच्चंति य तत्थ अण्णे ॥ (सूयगडो 5/1/10)

कुछ परमाधार्मिक देव किन्हीं के गले में शिला बांधकर उन्हें अथाह पानी में डुबो देते हैं। (वहां से निकालकर) तुषाग्नि की भांति (वैतरणी के) तीर की तपी हुई बालुका में उन्हें लोटपोट करते हैं और भूनते हैं।

असूरियं णाम महाभितावं, अंधं तमं दुप्पतरं महंतं।

उड्डुं अहे यं तिरियं दिसासु, समाहिओ जत्थगणी झियाइ ॥ (सूयगडो 5/1/11)

असूर्य नाम का महान् संतापकारी एक नरकावास है। वहां घोर अन्धकार है। जिसका पार पाना कठिन हो, इतना विशाल है। वहां ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में निरंतर आग जलती है।

## अगणी-आग

तत्थ कालोभासी अचेयणो अगणिक्कायो। (चूर्णि, पृ. 129)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ काली आभा वाला अग्निकाय किया है। वह अचेतन होता है।

जंसी गुहाए जलणेऽतिवट्टे, अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो।

सया य कल्लुणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं ॥ (सूयगडो 5/1/12)

उसकी गुफा में नारकीय जीव ढकेला जाता है। वह प्रज्ञाशून्य नैरयिक निर्गमद्वार को नहीं जानता हुआ उस अग्नि में जलने लग जाता है। नैरयिकों के रहने का वह स्थान सदा तापमय और करुणा उत्पन्न करने वाला है। वह कर्म के द्वारा प्राप्त और अत्यन्त दुःखमय है।

चत्तारि अगणीओ समारभेत्ता, जहि कूरकम्मा भित्वेत्त बालं।

ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा, मच्छा व जीवंतु व जोइपत्ता ॥ (सूयगडो 5/1/13)

कूरकर्मा नरकपाल नरकावास में चारों दिशाओं में अग्नि जलाकर इन अज्ञानी नारकों को तपाते हैं। वे ताप सहते हुए वहां पड़े रहते हैं, जैसे अग्नि के समीप ले जाई गई जीवित मछलियां।

अयं व तत्तं जलियं सजोइं, तओवमं भूमिमणुक्कमंता।

ते डज्झमाणा कल्लुणं थणंति, उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता ॥ (सूयगडो 5/2/4)

तस लोह की भांति जलती हुई अग्नि जैसी भूमि पर चलते हुए वे जलने पर करुण रुदन करते हैं, वे बाण से बींधे जाते हैं और तपे हुए जुए से जुते रहते हैं।

### ( 1 ) तओवमं-अग्नि जैसी

सा तु भूमि.....न तु केवलमेवोष्णा । ज्वलितज्योतिषाऽपि अणंतगुणं हि उष्णा सा, तदस्या औपम्यं तदोपमा । ( सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 135 )

एवां तदेवंरूपां तदुपमां वा भूमिम् । ( सूत्रकृतांग वृत्तिपत्र 135 )

यह भूमि का विशेषण है। इसका संस्कृत रूप है 'तदुपमाम्'। वह भूमि केवल उष्ण ही नहीं है किन्तु अग्नि से भी अनन्त गुण अधिक उष्ण है।

### ( 2 ) ते डङ्गमाणा-वे जलने पर

ते तं इंगालतुल्लं भूमिं पुणो पुणो खुंदाविज्जंति । ( सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 135 )

नरकपाल धधकते अंगारे जैसी उष्ण भूमि पर नैरयिकों को जाने-आने के लिए विवश करते हैं।

समूसियं णाम विधूमठाणं, जं सोयतत्ता कलुणं थणंति ।

अहोसिरं कटटु विगत्तिरुणं, अयं व सत्थेहि समूसवेत्ति ॥ ( सूयगडो 5/2/8 )

वहां एक बहुत ऊंचा विधूम अग्नि का स्थान है, जिसमें जाकर वे नैरयिक शोक से तप्त होकर करुण रुदन करते हैं। नरकपाल उन्हें बकरे की भांति औंधे सिर कर, उनके सिर को काटते हैं और शूल पर लटका देते हैं।

### विधूमठाणं

( १ ) विधूमो नागाग्निरेव, विधूमग्रहणाद् निरिन्धनोऽग्निः स्वयं प्रज्वलितः सेन्धनस्य ह्यग्नेरवश्यमेव धूमो भवति अथवा विधूमवद्, विधूमानां हि अङ्गाराणामतीव तापो भवति । ( सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 136 )

चूर्णिकार ने बताया है, जो अग्नि ईंधन से ही प्रज्वलित होती है, उससे धुआं अवश्य ही निकलता है। नरक की अग्नि निरिन्धन होती है।

सयाजलं ठाण णिहं महंतं, जंसी जलंतो अगणी अकट्टो ।

चिद्वंति तत्था बहुकूरकम्मा, अहस्सरा केइ चिरद्विईया ॥ ( सूयगडो 5/2/11 )

सदा जलने वाला एक महान् वधस्थान है। उसमें बिना काठ की आग जलती है। वहां बहुत क्रूर कर्म वाले नैरयिक जोर-जोर से चिल्लाते हुए लंबे समय तक रहते हैं।

जहा इहं अगणी उण्हो, एत्तोणंतगुणे तहिं ।

नरएसु वेयणा उण्हा, अस्साया वेइया मए ॥ ( उत्तरज्जयणाणि 19/47 )

जैसे यहां अग्नि उष्ण है, इससे अनन्त-गुना अधिक दुःखमय उष्ण-वेदना वहां नरक में मैंने सही है।

कंदंतो कंदुकुंभीसु, उड्डुपाओ अहोसिरो ।

हुयासणे जलंतम्मि, पक्कपुव्वो अणंतसो ॥ (उत्तरज्झयणाणि 7/57)

पकाने के पात्र में, जलती हुई अग्नि में पैरों को ऊंचा और सिर को नीचा कर आक्रन्दन करता हुआ मैं अनन्त बार पकाया गया हूँ ।

## हुयासणे

तत्र च बादराग्रेरभावात् पृथिव्या एव तथाविधः स्पर्श इति गम्यते । (बृहद्वृत्ति, पत्र 459)

अग्रिकायिक जीव दो प्रकार के होते हैं — सूक्ष्म और बादर । अग्नि के बादर जीव नरक में नहीं होते । यहां जो अग्नि का उल्लेख है, वह सजीव अग्नि के लिए नहीं किन्तु अग्नि जैसे तापवान् और प्रकाशवान् पुद्गलों के लिए है ।

महादवगिगसंकासे, मरुम्मि वइरवालुए ।

कलंबवालुयाए य, दड्डुपुव्वो अणंतसो ॥ (उत्तरज्झयणाणि 19/50)

महा दवाग्नि तथा मरु-देश और वज्र-बालुका जैसी कदम्ब नदी के बालु में मैं अनन्त बार जलाया गया हूँ ।

हुयासणे जलंतम्मि, चियासु महिसो वि व ।

दड्डो पक्को य अवसो, पावकम्महि पाविओ ॥ (उत्तरज्झयणाणि 19/57)

पाप कर्मों से घिरा और परवश हुआ मैं भैंसे की भांति अग्नि की जलती हुई चिताओं में जलाया और पकाया गया हूँ ।

इंदभूती नाम अणगारे गोयमसगोत्ते.....संखित्तविउलतेयलेसे..... । (भगवती 1/9)

संक्षिप्ता-शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतां गता, विपुला-विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्रा-श्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्या-विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा । (भ. वृ. 1/9)

वृत्तिकार ने तेजोलेश्या का अर्थ तेजो-ज्वाला किया है । यहां तेजोलेश्या का प्रयोग एक ऋद्धि (लब्धि या योगज विभूति) के अर्थ में हुआ है ।

ठाणं के अनुसार यह ऋद्धि तीन कारणों से उपलब्ध होती है । इसकी तुलना हठयोग की कुण्डलिनी से की जा सकती है । कुण्डलिनी की दो अवस्थाएं होती हैं-सुप्त और जागृत । तेजोलेश्या की भी दो अवस्थाएं होती हैं-संक्षिप्त और विपुल । इसके द्वारा हजारों किलोमीटर में अवस्थित वस्तु को भस्म किया जा सकता है । इसी प्रकार बहुत दूर तक अनुग्रह भी किया जा सकता है । इसके द्वारा अनुग्रह और निग्रह दोनों किये जा सकते हैं ।



# भगवान बुद्ध की शिक्षाओं का सामाजिक सरोकार

— प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन

बौद्धधर्म के सिद्धान्त और उनको प्रतिपादित करने वाले बौद्ध ग्रन्थों का दृष्टान्त विवेचन जितना आकर्षक है, उससे कई गुना प्रभावित करने वाला है भगवान् बुद्ध का व्यक्तित्व। उज्ज्वल और पवित्र चरित्र का धारक भगवान् बुद्ध का आत्म-संयम प्रेरणादायी बना है जनमानस को सदाचार के प्रति समर्पित बनाने में। बुद्ध का हृदय प्राणीमात्र को सुखी करने के लिए करुणा से भरा था, अतः उन्होंने अपना समस्त जीवन संसार के दुःख को दूर करने के लिए समर्पित कर दिया। इसलिए बुद्ध की शिक्षाएं समाज के हर वर्ग के उत्थान से जुड़ी हुई हैं। उनका धर्म हर व्यक्ति के लिए था। उनका अपना पट्टशिष्य उपालि नाम का एक नाई था, अतः बुद्ध की शिक्षाएं सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर नहीं करती हैं। सदाचार, अहिंसा, करुणा, मैत्री, सेवा आदि बुद्ध की शिक्षाओं के सुमधुर फल हैं। भगवान् बुद्ध ने अबैर से बैर की शान्ति का उपदेश देकर, प्राणी-हिंसा से सदैव दूर रहने का मार्ग प्रशस्त कर, प्राणियों में मैत्री भावना का संचार करने की प्रेरणा देकर विश्व का परम कल्याण किया है। गृहस्थों के लिए भी भगवान् बुद्ध ने अनेक प्रसंगों में विविध शिक्षाएं प्रदान की हैं। इनमें से कतिपय बुद्ध की शिक्षाओं के सामाजिक सम्बन्धों पर दृष्टिपात करना उपयोगी होगा।

भगवान् बुद्ध ने भावानाशून्य क्रियाकाण्डी पूजा-पाठ का निषेध किया था। उन्होंने अपनी पूजा तक को सार्थक न कहकर धर्म-आचरण की ओर सबको प्रेरित किया।<sup>1</sup> उन्होंने यह भी कहा था कि मनुष्य भय के मारे पर्वत, वन, उद्यान, वृक्ष, चैत्य आदि को देवता मानकर उनकी शरण में जाते हैं, किन्तु ये शरण मंगलदायक नहीं, ये शरण उत्तम नहीं, क्योंकि इन शरणों में जाकर सब दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। जो बुद्ध धर्म और संघ की शरण जाता है और चार आर्यसत्त्यों की भावना करता है, वही सब दुःखों से मुक्त होता है।



## कल्याणकारी धर्म :

भगवान् बुद्ध करुणा की मूर्ति थे। समस्त जनता को अनेक प्रकार के दुःखों से दुःखी देखकर सर्वप्रथम उनके मन में करुणा का उत्पाद हुआ। अन्ततोगत्वा उपाय की खोज में उन्होंने गृहत्याग किया और उरुवेला में बोधिवृक्ष के नीचे अनुपम ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध हुए। इस तरह उनमें महाकरुणा और महाप्रज्ञा विकास की चरमकोटि को प्राप्त कर, समरस होकर स्थित थीं। 'बुद्धं सरणं गच्छामि' में बुद्ध शब्द का अर्थ होता है भगवान् बुद्ध के स्कन्ध द्रव्यों में होने वाले अर्हत्व आदि 9 गुण। अर्हत् आदि नवगुणों को ही बुद्ध कहा जाता है। बुद्ध और संघ के बीच 'धम्म' मध्यस्थता करता है। बुद्ध ने धम्म का साक्षात्कार किया और अपने बाद 'धम्म' को अपना प्रतिनिधि बनाया। 'धम्म' के लिए बुद्ध ने अपने को विसर्जित कर दिया। 'धम्म' के प्रचार के लिए, ब्रह्मचर्य के प्रकाश के लिए संघ का आयोजन हुआ। बुद्ध के बाद उसका नियन्त्रणकर्ता भी 'धम्म' ही हुआ, कोई व्यक्ति नहीं। वस्तुतः बुद्ध ने अपने जीवन-काल में भी कभी यह नहीं माना कि वे संघ का संचालन कर रहे हैं। धम्म के द्वारा ही वे संघ को संचालित मानते थे। जिस धर्म का बुद्ध ने साक्षात्कार किया, उसे आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी और अन्त में भी कल्याणकारी कहा गया है।

बौद्ध धर्म में धर्म और सत्य एक माना गया है तथा दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। धर्म सत्य के ही मार्ग का नाम है। धम्मपद में भी सत्य, संयम, दम और अहिंसा को धर्म के ही अन्तर्गत माना गया है-

**यमिह सच्चन्ध धम्मो च अहिंसा सन्नगो दमो ॥ -धम्मपद 261**

आचार्य बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्न में धर्म शब्द के मुख्यतः चार अर्थों का विवेचन किया है- 1. सिद्धान्त, 2. हेतु, 3. गुण और 4. निसत्त। बौद्ध साहित्य में धर्म शब्द का प्रयोग और भी व्यापक अर्थ में किया गया है। वह कहीं स्वभाव, कहीं कर्तव्य, कहीं वस्तु और कहीं विचार और प्रज्ञा का वाचक भी बनकर आया है। इसके अतिरिक्त धर्म का प्रयोग बोधि-धर्म या ज्ञान धर्म के लिए भी किया गया है। बौद्ध परम्परा के लोग ज्ञान को ही सच्चा धर्म मानते थे। ज्ञान के अतिरिक्त धर्म शब्द का प्रयोग सत्य के अर्थ में भी मिलता है। धम्मपद में धर्म शब्द का प्रयोग भगवान् बुद्ध के उपदेशों के लिए किया गया है। उसमें कहा गया है कि बुद्धिमान् लोग धर्म अर्थात् भगवान् बुद्ध के वचनों को सुनकर उसी प्रकार शुद्ध और निर्मल हो जाते हैं जिस प्रकार गम्भीर जलाशय में जल निर्मल हो जाता है। जो अच्छी तरह उपदिष्ट धर्म में धर्मानुचरण करते हैं, वे ही दुरस्त मृत्यु के राज्य को पार कर सकते हैं-

**ये च खो सम्दक्खाते धम्मनुवत्तिनो ।  
तेजना पारमेस्सन्ति मच्चुधेयं सदुत्तरं ॥**

-धम्मपद, 86

इस प्रकार हम देखते हैं कि धम्मपद में धर्म शब्द का प्रयोग भगवान् बुद्ध के उपदेशों के अर्थ में किया गया है। इस धम्म सिद्धान्त में समाज के उत्थान के सूत्र समाहित हैं।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि नैतिक विकास के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा ये तीन मुख्य साधन हैं। अष्टांगिक मार्ग इसी साधनात्रय का विकसित रूप है। बौद्धधर्म में आचार और पुरुषार्थ की प्रधानता है। बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा—उद्योग तुम्हें करना होगा। उपदेश के श्रवणमात्र से दुःखनिरोध कथमपि नहीं होगा। उसके लिए आवश्यक है उद्योग करना। तथागत का कार्य तो केवल उपदेश देना है। उस पर चलना भिक्षुओं का कार्य है।<sup>7</sup> सामाजिक उत्थान के लिए यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और पुरुषार्थ का मूल्य विशेष महत्व का है।

### अहिंसक आजीविका :

तथागत बुद्ध द्वारा उपदिष्ट मार्ग 'मध्यममार्ग' या 'मध्यमा प्रतिपदा' कहलाता है, क्योंकि यह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से दोनों अन्तों का परिहार करता है। यह समन्वय का सूत्र है। मध्यममार्ग के सभी आठ अंग व्यक्ति और समाज के विकास में सहायक हैं, किन्तु उनमें सम्यक् आजीव आज के समाज के लिए नितान्त आवश्यक बन गया है। आर्य श्रावक मिथ्या आजीव (झूठी जीविका) को छोड़कर सम्यक् आजीव से जीविका चलाता है। बिना जीविका के जीवन धारण करना कठिन है। मानव मात्र को शरीर-रक्षण के लिए कोई-न-कोई जीविका ग्रहण करनी ही पड़ती है। परन्तु यह जीविका अच्छी होनी चाहिए, जिससे दूसरे प्राणियों को न तो किसी प्रकार का क्लेश पहुँचे और न उनकी हिंसा का अवसर आए। भगवान् बुद्ध ने उस समय की इन पाँच जीविकाओं को हिंसाप्रधान होने से अनुमोदित नहीं किया<sup>8</sup>—

1. हथियार का व्यापार,
2. प्राणियों का व्यापार,
3. मांस का व्यापार,
4. शराब का रोजगार और
5. विष का व्यापार।

इस प्रकार के अन्य हिंसा प्रमुख उद्योगों अथवा साधनों के माध्यम से जीविकोपार्जन करना हीन माना गया है। इनसे अलग होकर ऐसे कार्यों द्वारा जीविका उपार्जन करना जिससे किसी की हानि न हो, सम्यक् आजीविका है। जीविकोपार्जन के साधनों में सर्वत्र निर्दोष ढंग को ही श्रेष्ठ बताया गया है। धम्मपद से प्रकट है कि जिस प्रकार भ्रमर विभिन्न पुष्पों पर जाकर उनसे रस लेकर अपनी जीविका चलाता है उसी प्रकार भिक्षु गाँवों में विचरण करते हुए बिना किसी पर भार स्वरूप बने जीविकोपार्जन करें—

**यथापि भमरो पुष्पं वण्णगन्धं अहेठयं ।  
फलेति रसमादाय एवं गाने मुनी चरे ॥**

—धम्मपद, 49

बौद्ध उपासक का प्रमुख कर्तव्य यह है कि वह निम्नलिखित चार प्रकार के पाप कर्मों से विमुख रहे—

1. पाणातिपात (हिंसा करना) ।
2. अदिन्नादान (चोरी करना) ।
3. कामेसु मिच्छाचार (स्त्री सम्बन्धी दुराचार करना) ।
4. मुसावाद (असत्य बोलना) ।<sup>9</sup>

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर—दिसम्बर, 2002

31

### प्राणिमात्र के प्रति प्रेम :

सुत्तनिपात में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम करने का उपदेश दिया गया है। वहां कहा गया है कि शान्त पद (निर्वाण) की प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य को चाहिए कि वह योग्य तथा अत्यन्त सरल बने। उसकी बात मृदु, सुन्दर और विनम्रता से युक्त हो। वह सन्तोषी हो, अल्पकृत्य व अल्पवृत्तवान् हो, इन्द्रियसंयमी व अप्रगल्भ हो। सदैव निर्दोष रहने का प्रयत्न करे। उपासक/साधक की यह भावना रहे कि सभी प्राणी सुखी हों, सभी का कल्याण हो और सभी सुखपूर्वक रहें। जंगम या स्थावर, दीर्घ या महान्, मध्यम या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पत्त्यमान् जितने भी प्राणी हैं, सभी सुखपूर्वक रहें।<sup>10</sup> एक-दूसरे की प्रवंचना न करें, अपमान न करें, वैमनस्य के कारण परस्पर में दुःख देने की भावना न करें। माता जिस प्रकार स्वयं की चिन्ता न कर अपने इकलौते पुत्र का संरक्षण करती है उसी प्रकार का असीम प्रेम व्यक्ति प्राणिमात्र के प्रति करे।<sup>11</sup> शत्रुता को छोड़कर अखिल संसार के प्रति असीम प्रेम बढ़ाये। खड़े रहते, चलते, बैठते, सोते व जागृत रहते समय इसी प्रकार की स्मृति सजग रखनी चाहिए। यही ब्रह्मविहार है। प्राणियों के प्रति इस प्रकार की प्रेम भावना व्यक्ति को सदाचारी बनाती है। वही मुक्ति का पथिक बनता है।

### पंचशील का आचरण :

बौद्ध आचार-संहिता में हिंसा, चौर्य, असत्यभाषण, मिथ्याचार तथा सुरा, मेरय, मद्य आदि नशीली चीजों से विरत रहना-ये उपासकों के पंचशील माने गये हैं। इन्हीं को पंच शिक्षापद भी कहा गया है। इन पांच शिक्षापदों की पृष्ठभूमि में दस उद्देश्य निहित हैं-1. संघ की भलाई, 2. संघ की सुविधा, 3. दुष्ट व्यक्तियों का निग्रह, 4. शीलवान् भिक्षुओं का सुखपूर्वक विहार, 5. आश्रमों का संयमन, 6. श्रद्धावानों में अधिक श्रद्धा की जागृति, 7. अश्रद्धावानों में अधिक श्रद्धा सम्पन्नता, 8. भावी जन्मों के आश्रमों का प्रतिघात, 9. सद्धर्म की स्थिति तथा 10. विनय पर अनुग्रह। इन दस उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रातिमोक्ष के भी नियम बनाये गये हैं।<sup>12</sup>

बौद्धधर्म में सदाचार को शील कहा जाता है। शील का पालन प्रत्येक बौद्धों के लिए आवश्यक है। जो व्यक्ति शीलों का पालन नहीं करता वह अपने को बौद्ध कहने का अधिकारी नहीं समझा जाता। शील से मन, वाणी और काया ठीक होते हैं। सद्गुणों के धारण या शीलन के कारण ही उसे शील कहा जाता है। संक्षेप में शील का अर्थ है- सब पापों का सेवन न करना, पुण्य का संचय तथा अपने चित्त को परिशुद्ध रखना।<sup>13</sup> भगवान् ने कहा है कि जिसमें आकांक्षाएँ बनी हुई हैं वह चाहे नंगा रहे, चाहे जटा बढ़ाए, चाहे कीचड़ लपेटे, चाहे उपवास करे, चाहे जमीन पर सोये, चाहे धूल लपेटे और चाहे उकड़ बैठे, पर उसकी शुद्धि नहीं होती।<sup>14</sup> असली शुद्धि तो शील-पालन से होती है। धम्मपद (गा. 654) में शीलवान् व्यक्ति के गुणों को बतलाते हुए तथागत ने कहा है-पुण्य, चन्दन, तगर या चमेली किसी की भी सुगन्ध उल्टी हवा नहीं जाती किन्तु सज्जनों की सुगन्ध उल्टी हवा भी जाती है, सत्पुरुष सभी दिशाओं में सुगन्ध बहाता है।

वैर का मूल कारण दुःशीलता ही है। वैराग्री का शमन शील से ही हो सकता है। जो व्यक्ति शील का पालन नहीं करता, दुराचारी होकर अनेक प्रकार के पापकर्मों में ही लगा रहता है, वह मानवता से च्युत समझा जाता है। उसकी दुर्गति होती है और वह जब तक सदाचारी नहीं बनता है, तब तक निर्वाण-सुख को नहीं प्राप्त कर सकता। उसका जीवन निस्सार और हेय माना जाता है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि असंयमी और दुराचारी होकर राष्ट्र का अन्न खाने से आग की लपट के समान तप्त लोहे का गोला खा लेना उत्तम है।<sup>15</sup> पंचशील सदाचर के पांच सार्वभौम नियम हैं। वे इस प्रकार हैं<sup>16</sup>—

1. प्राणतिपात अर्थात् जीव-हिंसा से विरति,
2. मुसावाद या असत्य भाषण से विरति,
3. अदिन्नादान या चोरी से विरति,
4. परदारञ्च या परस्त्रीगमन से विरति,
5. सुरामेरयपानञ्च अर्थात् मद्यपान से विरति।

जो व्यक्ति इनका पालन करता है, उसका आचरण पवित्र माना जाता है।

### सामान्य शिष्टाचार की शिक्षा :

भगवान् बुद्ध ने प्रतिदिन के जीवन में उपस्थित होने वाली बातों पर भी हमें मार्गदर्शन प्रदान किया है। सामाजिक शिष्टाचार की शिक्षा देते हुए वे कहते हैं कि गृहस्थ का कर्तव्य है—समागत अतिथि का प्रसन्न मन से उठकर स्वागत करना, अभिवादन करना, बैठने के लिए आसन देना, किसी रखी हुई वस्तु को नहीं छिपाना, बहुत रहने पर थोड़ा नहीं देना, जो भी दें आदरपूर्वक देना। जिस गृहस्थ कुल में ये सात बातें न हों वहाँ कभी नहीं जाना चाहिए।<sup>17</sup>

तथागत ने व्यक्ति की अवनति के कारणों पर भी अत्यन्त व्यावहारिक बुद्धि से विचार किया है। उन्होंने कहा है कि कार्यबहुलता, वचन-बहुलता, निद्रा-बहुलता, मण्डली-बाहुल्य (अत्यधिक सामाजिक होना), दुर्वचनीयता व कुसंगति, ये छः कारण हैं जिनसे व्यक्ति की उन्नति नहीं हो पाती—(छकक निपात, अंगुत्तर निकाय)। श्रावस्ती में भगवान् ने व्यक्ति की अवनति के और भी कारण प्रदर्शित किए हैं, जिनमें प्रमुख हैं—1. धर्मद्वेष, 2. असत्पुरुष प्रियता, 3. निद्रा, अधिक सम्पर्क, अनुद्योग, क्रोध, 4. वृद्ध माता-पिता की अशुश्रूषा, 5. मिथ्या भाषण, 6. मात्र स्वादिष्ट भोजन, 7. जाति, धन तथा गोत्र का गर्व व बन्धुओं का अपमान, 8. मिथ्याचार व मद्यमान, 9. परस्त्री संसर्ग, 10. अनमेल विवाह, 11. लालची भृत्य तथा 12. अल्पसाधन सम्पन्न पर महालालची पुरुष द्वारा राज्य की इच्छा। ये पराभव के कारण ऐसे हैं, जिन्हें कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।<sup>18</sup>

सम्पत्ति नाश के कारण हैं—1. शराब आदि का सेवन, 2. चौरस्ते की सैर, 3. समाज—नाच-तमाशा, 4. जुआ, 5. बुरे मित्र की मित्रता, 6. आलस्य में जीना। इनमें से हरेक से अनिष्ट होता है। इसमें आगे बतलाया है—चार मित्र रूप में शत्रु हैं—1. परधनहारक, 2. बातुनी, 3. सदा मीठा बोलने वाला, 4. अपाय (हानिकर) बात में

सहायक। सच्चे मित्र में चार बातें होती हैं-1. उपकारी होना, 2. सुख-दुःख में समान रहने वाला, 3. अर्थ प्राप्त कराने वाला, 4. अनुकम्पक।

अंगुत्तरनिकाय में कहा है जो प्रिय हो, अनुकूल हो, गौरव-भाजन हो, पूज्य हो, वक्ता हो, वचनक्षम हो, गम्भीर बात करने वाला हो तथा अनुचित मार्ग से दूर करने वाला हो उसकी संगति करनी चाहिए-

पियो गरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खयो ।  
गम्भीर च कथं कत्ता नो चट्टाने नियोजको ।  
यम्हि एतानि ठानाति, सविज्जन्तीध पुगगले ।  
सो मत्तो मित्तकामेन, भजितब्बो तथाविधो ॥

**गृहस्थों का विनय :**

राजगृह के वेणुवन कलन्दकनिवाप में भाषित सिंगालोवादसुत है। इसमें गृहस्थों का कर्त्तव्य बतलाया गया है, इसीलिए इसे गृहस्थों का विनय भी कहते हैं। सिंगाल राजगृह का वैश्य-पुत्र था। वह साँझ-सवेरे उठकर सभी दिशाओं को हाथ जोड़कर नमस्कार करता था। भगवान् के पूछने पर उसने कहा-मरते समय पिता ने कहा था, तात ! दिशाओं को नमस्कार करना। पिता के वचन को मानकर मैं नमस्कार करता हूँ। भगवान् ने कहा—ऐसे नहीं, चार कर्मक्लेशों के नाश से इस लोक तथा परलोक की विजय होती है-1. प्राणी न मारना, 2. चोरी न करना, 3. व्यभिचार न करना, 4. झूठ न बोलना,<sup>19</sup> इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने परम्परागत मूढ़ विचारधाराओं का निरसन कर व्यावहारिक सदाचारी मार्ग अपनाने का उपदेश दिया है।

**अहिंसा और करुणा :**

बुद्ध ने प्राणिमात्र के प्रति करुणा करने का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है कि सभी प्राणी सुखी हों, सभी का कल्याण हो और सभी सुखपूर्वक रहें—

ये केचि पाणभूतत्थि तसा वा थावरा वा अनवसेसा ।  
दीना वा ये महान्ता वा मज्झिमा रस्मकाणुकथूला ॥  
दिट्ठा वा ये व अदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे ।  
भूता वा संभवेसी वा सब्बे सत्ता भवन्ति सुखितत्ता ॥

-मेत्तसुत 4-5

संयुत्तनिकाय में कहा है कि जो शरीर मन और वचन से हिंसा नहीं करता और पर को नहीं सताता, वही अहिंसक है। अहिंसक की यह परिभाषा बड़ी व्यापक व मानवता से भरपूर है।<sup>20</sup> अंगुत्तरनिकाय में यह कहा गया है कि व्यक्ति को तीन प्रकार की शुचिता प्राप्त करनी चाहिए—

1. शरीर शुचिता—प्राणी हिंसा, चोरी, मिथ्याचार से विरति।
2. वाणी शुचिता—मृषावाद, पैशुन्य, कठोर वचन तथा व्यर्थ वचन से विरति।
3. मानसिक शुचिता—क्रोध, लोभ, मिथ्यादृष्टि, आलस्य, औद्धत्य, कौकृत्य, विचिकित्सा आदि से विरति।<sup>21</sup>

कारुण्य अहिंसा-भावना का प्रधान केन्द्र है। उसके बिना अहिंसा जीवित नहीं रह सकती। समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करना इसकी मूल भावना है। हेयोपादेय ज्ञान से शून्य दीन पुरुषों पर विविध सांसारिक दुःखों से पीड़ित पुरुषों पर, स्वयं के जीवन-याचक जीव-जन्तुओं पर, अपराधियों पर, अनाथ, बल, वृद्ध, सेवक आदि पर तथा दुःख-पीड़ित प्राणियों पर प्रतीकात्मक बुद्धि से उनके उद्धार की भावना ही कारुण्य भावना है। यही अहिंसामय धर्म है।<sup>22</sup>

### कर्म की प्रधानता :

तात्कालीन जीवन में वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच की भावना से ग्रस्त होकर समाज को जर्जर कर रही थी। यही कारण है कि बौद्ध-ग्रन्थों में वर्ण-व्यवस्था की कड़ी भर्त्सना की गई है।<sup>23</sup> जन्म के स्थान पर कर्म को प्रमुखता दी गई है तथा उनके पारस्परिक भेदभाव को कम करने की चेष्टा की गई है। भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त धारणा का स्पष्टीकरण मज्झिमनिकाय के अस्सलायनसुत्त में मिलता है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने जाति-भेद सम्बन्धी मिथ्या-धारणाओं का निरसन कर चारों वर्गों के मोक्ष या नैतिक शुद्धि की धारणा की प्रतिस्थापना की है।<sup>24</sup> भगवान् बुद्ध के संघ में समाज के सभी वर्गों के व्यक्ति थे। बौद्ध धर्म के प्रसार में यह भावना विशेष रूप से सहायक बनी है कि बौद्ध धर्म के पालन के लिए व्यक्ति को अपना सामाजिक जीवन बदलने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति किसी भी जाति या आजीविका वाला हो वह धर्म की शरण में जा सकता है। उसे मात्र सदाचारी होने की आवश्यकता है, कर्म उसका शुद्ध होना चाहिए।

### नारी जीवन का हित-सुख :

बौद्ध धर्म में नारी जीवन के विभिन्न प्रसंगों पर विद्वानों ने विशेष प्रकाश डाला है।<sup>25</sup> धर्म और संघ की दृष्टि से नारियों के प्रति भगवान् बुद्ध का विशेष दृष्टिकोण भी रहा है। किन्तु समाज की दृष्टि से उन्होंने नारी को गृहस्थ जीवन की आधारशिला माना है। उसके कर्तव्यों का भी निर्देश किया है।

एक बार गृहस्थ उग्गह ने भगवान् से यह निवेदन किया कि मेरी ये लड़कियाँ पति के कुल जाएँगी। भगवान् इन्हें ऐसा उपदेश दें, जो दीर्घकाल तक इनके हित तथा सुख का कारण हो। भगवान् ने कहा-कुमारियों! माता-पिता तुम्हें जिस किसी भी पति को सौंपे, तुम उसके सोकर उठने से पूर्व उठो, उसके सोने के बाद सोओ, आज्ञाकारिणी रहो, अनुकूल व्यवहार करो तथा प्रियवादिनी बनो। पति के गौरवभाजन जनों—माता-पिता, श्रमणों, ब्राह्मणों का सत्कार करो। स्वामी का जो भी शिल्पकार्य हो, चाहे ऊन का हो या कपास का हो, उसमें पूर्ण दक्षता प्राप्त करो, अप्रमादी होकर उसकी व्यवस्था करने में यथोचित सहयोग करो। स्वामी के भृत्यगणों के कार्य की पूर्ण जानकारी रखो। रोगियों की भरपूर सेवा-शुश्रूषा करो। स्वामी के धन-धान्य आदि का यथाशक्य संरक्षण करो। ऐसी नारी धर्मस्थिता, सत्यवादिनी, शीलवती कहलाती है-

योन भरति सब्बदा निच्चं आतापि उत्सको । सब्बकामहरं पोसं भच्चार नातिमत्रति ॥  
 न सापि सोत्थि भत्तारं इच्छाचरिन रोसये । भत्तु च गरुनो सब्बे परिपूजते पण्डिता ॥  
 उट्टाहिका अललसा संगहीत परिज्जना । भत्तु मनापा चरति सम्भतं अनुरक्खति ॥  
 या एवं वत्तती नारी भत्तु छनदवसानुगा । मनापा नाम ते देवा यति सा उपज्जति ॥<sup>26</sup>

### सामाजिक सेवा के मापदण्ड :

बौद्ध ग्रन्थों में सामाजिक सेवा के अनेक प्रसंग प्राप्त हैं। भगवान बुद्ध ने सेवा करने के कतिपय सूत्र दिए हैं जिनकी आज भी उतनी ही प्रासंगिकता है, जितनी उस युग में थी। अगुत्तरनिकाय में तथागत ने कहा है कि उपासक का कर्तव्य है कि वह माता-पिता, आचार्य, पत्नी, मित्र, सेवक तथा साधु की सेवा करे। माता-पिता ने हमारा भरण-पोषण किया, काम किया, कुल परम्परा बनाये रखी, दायज्य (विरासत) दी, श्राद्ध दान दिया, यह सोचकर उपासक उक्त सभी कार्य माता-पिता के प्रति करे, क्योंकि माता-पिता को पाप से निवारित करते हैं, पुण्य पथ पर आरूढ़ करते हैं, शिल्प शिक्षण देते हैं, योग्य विवाह सम्बन्ध करते हैं, दायज्य निष्पादन करते हैं।

आचार्य की सेवा के सन्दर्भ में उत्थान (तत्परता), उपस्थान (उपस्थिति) शुश्रूषा, परिचर्या व सत्कारपूर्वक शिल्प प्रशिक्षण अधिक महत्वपूर्ण है। आचार्य शिष्य को विनीत बनाता, सुन्दर शिक्षा देता, सभी प्रकार के शिल्प सिखाता, मित्र का सुप्रतिपादन करता व दिशा की सुरक्षा करता।

पत्नी की सेवा उसके सम्मान से, अपमान न करने से, मिथ्याचार न करने से, ऐश्वर्य प्रदान करने से तथा अलंकार प्रदान करने से करनी चाहिए, क्योंकि भार्या द्वारा कर्मान्त भले प्रकार के होते हैं, परिजन वश में रहते हैं, वह स्वयं अनाचारिणी नहीं होती, अर्जित सम्पत्ति आदि की रक्षा करती है तथा सभी कामों में निरालस और दक्ष होती है।

मित्रों की सेवा दान, प्रिय वचन, अर्थचर्या, समानता तथा विश्वास प्रदान करने से होनी चाहिए, क्योंकि वे मित्र प्रमाद कर देने पर रक्षा कर देते हैं, भय के समय शरण देने वाले होते हैं, प्रमत्त की सम्पत्ति की रक्षा करते हैं, आपत्काल में नहीं छोड़ते तथा दूसरे लोग भी ऐसे मित्र का सम्मान करते हैं।

सेवक की सेवा करके उसके बल के अनुसार कार्य देने से, भोजन वेतन प्रदान करने से, भोगी-शुश्रूषा से, उत्तम संरक्षक पदार्थ देने से और समय पर अवकाश (वोसग्ग) देने से करनी चाहिए, क्योंकि सेवक स्वामी से पूर्व बिस्तर से उठ जाने वाले होते हैं, प्रदत्त वस्तु को ही ग्रहण करने वाले होते हैं, सुव्यवस्थित कार्य करने वाले होते हैं तथा कर्ति को फैलाने वाले होते हैं।

साधु-ब्राह्मण की सेवा मैत्री भावयुक्त कायिक, वाचिक व मानसिक कर्म से, उनके लिए द्वार खुला रखने से, खाद्य वस्तु करने से होनी चाहिए। ये श्रमण-ब्राह्मण गृहस्थों को पाप कार्यों से दूर रखते हैं, कल्याण का पथ दिखाते हैं, कल्याण प्रदान करते हैं, विद्यादान देते हैं तथा स्वर्ग का पथ-दर्शन कराते हैं।<sup>27</sup>

इस प्रकार प्रतीत होता है कि भगवान् बुद्ध ने धम्मचक्र का प्रवर्तन विश्व के प्राणियों को दुःख से छुटकारा दिलाने के लिए किया था। उनका धम्म करुणा, अहिंसा, मैत्री, अप्रमाद और सामाजिक न्याय जैसे मूल्यों की स्थापना करने वाला है। व्यक्ति और समाज के विकास और सुख को बढ़ाने वाले प्रश्नों का बुद्ध ने समाधान किया है, शेष गूढ़ दार्शनिक प्रश्नों को उन्होंने अव्याकृत कहकर सामाजिक और व्यक्तिगत बुद्धि के दुरुपयोग को रोका है। बोधिसत्व सिद्धान्त सामाजिक उत्थान का महत्त्वपूर्ण आधार है। संवेदनशीलता का विस्तार इससे समाज में हुआ है। समाज में शुभ संकल्प की संरचना एक अच्छे नगर की संरचना के समान है। भगवान् बुद्ध ने इसी सामाजिक कल्याण के परिप्रेक्ष्य में वर्ण व्यवस्था और पारिवारिक दायित्वों की शिक्षा दी है। गृहस्थ के आचरण धम्म से कैसे जुड़े रहें, इस पर भगवान् बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं में पर्याप्त प्रकाश डाला है। नारी के सम्मान और सामाजिक न्याय के दृश्य भी उनकी शिक्षाओं में झलकते हैं, अतः भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं का सामाजिक विकास से गहरा सरोकार है।

### सन्दर्भ :

1. महापरिनिब्बानसुत्त, पृष्ठ 144
2. बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि वनानि च। आरामं रूक्खचेत्यानि मनुस्साभयं तज्जिता ॥  
नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं। नेतं सरणमागमं सब्ब दुक्खा पमुच्चति ॥  
- धम्मपद, 188, 189।
3. वही, 190-192
4. हत्थिपेदोपसमसुत्त ( मज्झिमनिकाय, 1/3/7)
5. बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-1, पृष्ठ 120-121
6. यथापि रहदो गम्भीरो विप्पसीदन्ति अनाविलो। एवं धम्मानी सुव्वान विप्पसीदन्ति पण्डिता ॥  
-धम्मपद, 82।
7. तुम्हेहि किच्चं आतप्यं अक्खातारो तथागता। पटिपन्ना पमोक्खन्ति ज्ञायिनो मारबन्धना ॥  
-वही, 276।
8. दीघनिकाय, द्वितीय भाग, पृष्ठ 233।
9. पाणिनिपातो अदिन्नादानं मुसावादी च बुच्चति। परदारगमनचेव चप्पसंसन्ति पण्डिता ॥  
-सिंगालोवादसुत्त, दी. 8.1.4
10. मेत्तसुत्त 4-5
11. माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे। एवं पि सव्वभूतेसु मानसं भावये अपरियाणं ॥  
-वही, 7
12. मेत्तसेत्त, सुत्तनिपात, 1-10।
13. सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पद।  
स-चित्तं परियोदपनं एतं बुद्धानं सासनं ॥ -धम्मपद, 183।
14. न नगगरिया न जटा न पड्क। नानासकाथण्डिलसायिका वा।  
रजो वज्रं उक्कुटिकप्पधानं। सोधेन्ति मच्चं अवितीणकण्डं ॥ -धम्मपद, 141



15. सेयो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्निस्खूपमो ।  
यञ्चे भुञ्जेरूय दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्जतो ॥ -वही, 308 ।
16. यो पाणमत्तिपातेति मुसावादञ्च भासति ।  
लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति ॥  
सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति ।  
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनतिअत्तनो ॥ -धम्मपद, 246-247
17. सत्तक, अंगुत्तर निकाय ।
18. वसल सुत्त, सुत्तनिपात ।
19. पाली साहित्य का इतिहास, पं. राहुल सांकृत्यायन लखनऊ 1963
20. अहिंसक सुत्त
21. तिकनिपात, अंगुत्तर निकाय ।
22. धर्मः समासतौहिंसा वर्णयन्ति तथागतः, चतुःशतक, 298 ।
23. (क) फिक, रिचर्ड, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, पृष्ठ 85, 253, 321, 322  
(ख) सिंह, मदनमोहन, बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृष्ठ 22  
(ग) मज्झिमनिकाय, जिल्द 2, पृष्ठ 84, 148, दीघनिकाय, जिल्द 1, पृष्ठ 90-91, 103  
सुत्तनिपात 1/7/21, 3/9/57, अंगुत्तरनिकाय 1, पृष्ठ 19, उदान, 1/15  
(घ) बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, पृष्ठ 27-31  
(ङ) बौद्ध तथा जैनधर्म-डॉ. महेन्द्रनाथ सिंह, वाराणसी 1990, पृ. 177-178
24. अस्सलायनसुत्त ( मज्झिमनिकाय, 2/5/31) पृष्ठ 390 ।
25. बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन, डॉ. कोमल चन्द जैन, वाराणसी
26. अंगुत्तरनिकाय, पंचक-अट्टकनिपात ।
27. (क) पंचक निपात,  
(ख) बौद्ध संस्कृति का इतिहास-डॉ. भगचन्द जैन, नागपुर 1972, पृ. 255-257

29, विद्याविहार कॉलोनी  
उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर-313001  
(राजस्थान)

# उत्तराध्ययन में प्रतीक

— समणी अमितप्रज्ञा

## प्रतीक : स्वरूप विश्लेषण

‘प्रतीयते येन इति प्रतीकः’ -जिसके द्वारा किसी अर्थ-विशेष या वस्तु-विशेष की प्रतीति हो, वह प्रतीक है। इस अन्वय के अनुसार प्रतीक वह है जो अपने से भिन्न किसी अन्य प्रतीयमान अर्थ का बोध कराता है। लोकमान्य तिलक ने ‘गीता रहस्य’ में प्रतीक शब्द की व्याख्या करते हुए उसकी संरचना ‘प्रति’ और ‘इक’ के योग से मानी। जिसका अभिप्राय है (किसी के) प्रति झुका हुआ। उनके कथनानुसार ‘जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का (सम्पूर्ण सम्यक्) ज्ञान हो तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं।’<sup>1</sup> इस दृष्टि से प्रतीक अपने भीतर किसी पदार्थ के संकेत छिपाए रखने वाला तत्त्व है। सांकेतिक शब्दों से वस्तु या गुण को व्यक्त कर देना प्रतीक का कार्य है। कला का वैशिष्ट्य छुपाव है, प्रदर्शन नहीं। इस दृष्टि से प्रतीक अलंकरण या प्रसादन के हेतु हैं।

प्रतीक में सम्पूर्ण की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है।<sup>2</sup> किसी जीव-वस्तु, दृश्य-अदृश्य, प्रस्तुत-अप्रस्तुत वस्तु का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्ति प्रतीक है। ‘प्रतीक वह जादुई कुंजी है जो सभी द्वारों को खोल सकती है।’<sup>3</sup> प्रतीक को अंग्रेजी में ‘सिम्बल’ कहा गया है। डॉ. नागेन्द्र ने प्रतीक को रूढ़ उपमान व अचल बिम्ब माना है। उनका कथन है कि जब उपमान स्वतंत्र न रहकर पदार्थ विशेष के लिए रूढ़ हो जाता है तब वह प्रतीक बन जाता है।<sup>4</sup> डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार-‘जिस प्रकार मधु का एक बिन्दु सहस्रों पुष्पों की सुगन्धि एवं मकरन्द का संश्लिष्ट रूप है उसी प्रकार एक प्रतीक अनेकानेक मानव जगत् और वस्तु-जगत् के कार्य-व्यापारों का संकलन है। साहित्य के इतिहास में मंत्र से लेकर आत्मबोध की अनेकानेक भावनाएं इसी प्रतीक द्वारा उद्बुद्ध हुई हैं। प्रतीक व्यष्टि में समष्टि का संपोषण है।’<sup>5</sup>

काव्य भाषा प्रतीकों के रथ पर सवार होकर अपना सफर तय करती है। प्रतीक गुह्य अर्थ-पटल को खोलने वाली वह कुंजी है जो आकार में लघु होते हुए भी भाव जगत् के विशाल प्रासाद में प्रवेश के द्वार उन्मुक्त करती है। काल की

सम्प्रेष्य भावनाएं अभिव्यक्ति के द्वार बन्द देखती हैं तब प्रतीक अनायास उनकी उन्मुक्ति का नया मार्ग प्रशस्त करते हैं। शैली विज्ञान के अनुसार प्रतीक में निबद्ध काव्यभाषा अमूर्त को मूर्त, अदृश्य को दृश्य अथवा अप्रस्तुत को प्रस्तुत बनाने वाले प्रसंग गर्भित विशिष्ट संरचना बिन्दुओं का उजागर करती है। मितव्ययिता प्रतीक का धर्म है।

प्रतीक और बिम्ब, ये दोनों शब्द प्रायः एक जैसा अर्थ ध्वनित करते हैं पर दोनों में बहुत अन्तर है-

### बिम्ब

### प्रतीक

- |   |  |
|---|--|
| १. बिम्ब में निश्चित वस्तु के निश्चित रूप का संकेत रहता है। | १. प्रतीक में स्थिति सदैव अनिश्चित ही रहती है।   |
| २. बिम्ब में चित्रात्मकता प्रधान रहती है।                   | २. प्रतीक संकेत, व्यंग्यप्रधान रहता है।  |
| ३. बिम्ब का वैशिष्ट्य उसके पूर्ण विवरण में है।              | ३. प्रतीक का वैशिष्ट्य संक्षिप्तता में है।   |
| ४. बिम्ब सामान्य पाठक में भी भावोत्तेजन करने में सक्षम है।  | ४. प्रतीक में बौद्धिकता अधिक सन्निहित रहती है। कभी ये इतने दुरूह होते हैं कि उन्हें समझाने के लिए बौद्धिक संस्कार आवश्यक है। |

प्रतीक-प्रयोग का हेतु विषय की व्याख्या, स्पष्टीकरण व अर्थ को दीप्त करना है। प्रतीक का रूप पूर्ण तथ्य का द्योतक मात्र होता है, इसमें पूर्ण तथ्य की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष नहीं होती।

उत्तराध्ययन के ऋषि ने अपने काव्य में प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया है। उत्तराध्ययन के प्रतीक वे जलते हुए दीपक हैं जिसकी रोशनी में हम शाश्वत सत्यों का, शक्तियों का कुछ रहस्य प्राप्त कर सकते हैं। मानवीय मनोभाव, धर्म, दर्शन, सिद्धांत आदि के गहन रहस्यों को समझाने के लिए विविध प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

प्रतीकों की प्रकृति, अर्थवत्ता और व्यंजना-शक्ति देश-काल-व्यक्ति के अनुसार परिवर्तनीय है। इसीलिए विद्वानों, समीक्षकों ने प्रतीकों का वर्गीकरण विभिन्न रूपों में किया है।

उत्तराध्ययन में प्रयुक्त प्रतीकों के अनेक विभाग किए जा सकते हैं-

### १. स्रोत के आधार पर

- |                          |  |
|--------------------------|--|
| मनुष्य जगत् के प्रतीक-   | सूरे दढपरक्कमे, वासूदेवे, चक्कवट्टी महिड्डिए, सक्के, सारही, इंदियचोरवस्से        |
| तिर्यञ्च जगत् के प्रतीक- | मिए, भारुंडपक्खी, कंथए आसे, कुंजरे, वसहे, सीहे, कावोया वित्ती, दुट्टस्सो, सप्पे। |

स्थान प्रतीक-

लाढे

प्राकृतिक प्रतीक-

जगई, धयसित्त व्व पावए, चेइए वच्छे, कुमुदं, दिवायरे, उडुवई चंदे, जंबू दुमे, सीया नई, मंदरे गिरी, सयंभूरमणे उदही, तमं तमेणं, किंपागफलाणं, विज्जुसोया-मणिप्पभा, भाणू।

खाद्य पदार्थ के प्रतीक- संखम्मि पयं

## २. शुभाशुभ के अभिव्यंजक

शुभ : जगई, दोगुंछी, लाढे, धयसित्त व्व पावए, भारुंडपक्खी, पत्तं, चेइए वच्छे, कुमुदं, कंथए आसे, सूरे दढपरक्कमे, कुंजरे, वसहे, सीहे, वासुदेवे, चक्कवट्टी महिड्डिए, सक्के, दिवायरे, उडुवई चंदे, कोट्टागारे, जंबू दुमे, सीया नई, मंदरे गिरी, सयंभूरमणे उदही, विहारं, सिरं, कावोया विची, विज्जुसोयामणिप्पभा, भाणू, सारही, अंतकिरियं।

अशुभ : मिए, तमं तमेण, साहाहि रुक्खो, किंपागफलाणं, दुट्टस्सो, सप्पे, इंदियचोरवस्से।

## ३. मूर्त्तत्व-अमूर्त्तत्व के आधार पर

अमूर्त्त के लिए मूर्त्त प्रतीक : मिए, धयसित्त व्व पावए, भारुंडपक्खी, कुमुदं, सिरं, किंपागफलाणं, दुट्टस्सो, सप्पे

अमूर्त्त के लिए अमूर्त्त प्रतीक : अंतकिरियं

मूर्त्त के लिए मूर्त्त प्रतीक : जगई, लाढे, चेइए वच्छे, संखम्मि पयं, कंथए आसे, सूरे दढपरक्कमे, कुंजरे, वसहे, सीहे, वासुदेवे, चक्कवट्टी महिड्डिए, सक्के, दिवायरे, उडुवई चंदे, कोट्टागारे, जंबू दुमे, सीया नई, मंदरे गिरी, सयंभूरमणे उदही, विहारं, तमं तमेणं, साहाहि रुक्खो, विज्जुसोयामणिप्पभा, भाणू, सारही, अंतकिरियं।

## ४. लिंग के आधार पर

स्त्रीलिंग : जगई, दोगुंछी, सीया नई, कावोया विची, विज्जुसोयामणिप्पभा।

पुल्लिंग : मिये, लाढे, धयसित्त व्व पावए, भारुंडपक्खी, चेइए वच्छे, कंथए आसे, सूरे दढपरक्कमे, कुंजरे, वसहे, सीहे, वासुदेवे, चक्कवट्टी महिड्डिए, सक्के, दिवायरे, उडुवई चंदे, कोट्टागारे, जंबू दुमे, सीया नई, मंदरे गिरी, सयंभूरमणे उदही, साहाहि रुक्खो, दुट्टस्सो, भाणू, सारही, सप्पे, इंदियचोरवस्से।

नपुंसकलिंग : पत्तं, कुमुदं, संखम्मि पयं, विहारं, तमं तमेणं, सिरं, किंपागफलाणं, अन्तकिरियं।

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर—दिसम्बर, 2002

41

इस प्रकार और भी विभाजन किया जा सकता है। उत्तराध्ययन में प्रयुक्त कुछ प्रतीकों का विश्लेषण यहां काम्य है।

### मिष्ट ( मृगः )

मृग इन्द्रियों में आसक्त मन का प्रतीक है। मृग शब्द के दो अर्थ हैं—हरिण व पशु। उत्तराध्ययनकार ने पशु की लाक्षणिक विवक्षा से इस प्रतीक का प्रयोग विवेकहीन व्यक्ति के लिए किया है—

एवं शीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिष्ट ।<sup>6</sup>

अज्ञानी भिक्षु शील को छोड़कर दुःशील में रमण करता है।

यहां कवि अभिप्रेत प्रतीक का भावार्थ है 'अज्ञानं सर्वपापेभ्यः पापमस्ति महत्तरम्'—क्रोध आदि सब पापों से भी अज्ञान बड़ा पाप है। अज्ञान महारोग है, कष्टकर है। अज्ञान रूपी पर्दे से आच्छादित व्यक्ति अपने हित-अहित को नहीं जान पाता।

### जगई ( जगती )

पृथ्वी को विनीत शिष्य का प्रतीक बनाया गया है। पृथ्वी एक प्रतीक है 'सर्वसहा' का, 'क्षमाशीलता' का, सभी के आधार का। शास्त्रों में स्थान-स्थान पर कहा गया कि मुनि को पृथ्वी के समान सहनशील होना चाहिए। यहां विनीत शिष्य का प्रतीक बनाकर कहा गया—

हवई किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा ।<sup>7</sup>

जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार वह आचार्यों के लिए आधारभूत बन जाता है।

सभी प्राणियों को आधार प्रदान करने के कारण पृथ्वी सबकी आश्रयदाता है, सबका आधार है। पृथ्वी की अनवरत आधारशीलता को आचार्य के लिए विनीत शिष्य के आधार का प्रतीक मानकर शिष्य को पृथ्वी से भी अधिक आधारभूत होने का कवि-इच्छित प्रतीक की साक्ष्य ये पंक्तियां हैं।

### दोगुंछी ( जुगुप्सी )

अहिंसक के प्रतीक रूप में प्रयुक्त 'दोगुंछी' शब्द का निंदा करने वाला, घृणा करने वाला आदि अर्थों में साहित्य-क्षेत्र में पर्याप्त प्रचलन है। कवि ने इस प्रतीक के प्रचलित अर्थ को थोड़ा विस्तार देकर, उसे भावार्थप्रधान बनाकर उस शब्द के द्वारा प्राणी मात्र के प्रति अहिंसक व्यवहार की अभिव्यंजना कराई है—

तओ पुट्टो पिवासाए दोगुंछी लज्जसंजए ।

सीओदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे ॥<sup>8</sup>

अहिंसक या करुणाशील लज्जावान संयमी साधु ध्यास से पीड़ित होने पर सचित्त पानी का सेवन न करें, किन्तु प्रासुक जल की एषणा करें।

‘दोगुंछी’ का संस्कृत रूप ‘जुगुप्सी’ गुपू रक्षणे<sup>9</sup> धातु से निष्पन्न है। उसका शाब्दिक अर्थ है-घृणा करने वाला। मुनि हिंसा से, अनाचार से घृणा करता है। प्यास से आक्रान्त होने पर भी सचित्त जल का सेवन उसके लिए अनाचीर्ण होने से त्याज्य है, अहितकर है। वह परीषह सहन कर लेता है किन्तु ऐसी हिंसा से घृणा करता है। यहां ‘दोगुंछी’ शब्द मुनि की अहिंसक वृत्ति का, अविराम साधना का प्रतीक है जो साधु की सही पहचान की प्रतीति कराने में समर्थ है।

**लाढे ( लाढः )**

आगमिक भाषा ऋषि-रचित होने से अध्यात्मपरक है। ‘लाढ’ मूल रूप में एक प्रदेश का नाम है, किन्तु यहां कष्टसहिष्णु के रूप में प्रयुक्त होने से काव्यजगत् में उभरने वाला आगमकार का यह एकदम नया प्रतीक है।

**एग एव चरे लाढे अभिभूय परीसहे।**

गामे वा नगरे वावि निगमे वा रायहाणिए ॥<sup>10</sup>

संयम के लिए जीवन-निर्वाह करने वाला मुनि परीषहों को जीतकर गांव में या नगर में, निगम में या राजधानी में अकेला (राग-द्वेष रहित होकर) विचरण करे।

भगवान महावीर ने लाढ देश में विहार किया था, तब वहां अनेक कष्ट सहे थे।<sup>11</sup> कभी शिकारी कुत्तों के तो कभी वहां के रुक्षभोजी लोगों के। आगे चलकर लाढ शब्द कष्ट सहने वालों के लिए श्लाघा-सूचक बन गया। संयमी जो कि कष्ट-सहिष्णु है, उसके लिए यहां लाढ शब्द का अर्थगर्भित प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है।

इसी आगम के १५/२ में लाढ का अथ सत् अनुष्ठान से प्रधान किया है।<sup>12</sup>

इसी गाथा में प्रयुक्त ‘एग’ शब्द ‘राग-द्वेष-रहितता’ का तथा जनता के मध्य रहता हुआ भी ‘अप्रतिबद्धता’ का सूचक है।

**घयसित्त व्व पावए ( घृतसित्तः इव पावकः )**

क्रोध की अभिव्यक्ति, दीप्ति, निर्वाण, तेजस्विता की अभिव्यक्ति के लिए ‘अग्रि’ प्रतीक सर्व प्रचलित है। स्वयं रचनाकार ने निर्वाण, दीप्ति अर्थ में ‘घृतसित्त-अग्रि’ प्रतीक का प्रयोग किया है-

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिद्धई।

निव्वाणं परमं जाइ घयसित्त व्व पावए ॥<sup>13</sup>

शुद्धि उसे प्राप्त होती है, जो ऋजुभूत होता है। धर्म उसमें ठहरता है जो शुद्ध होता है। जिसमें धर्म ठहरता है वह घृत से अभिसित्त अग्रि की भांति परम निर्वाण (समाधि) को प्राप्त होता है।

घृतसित्त-अग्रि को निर्वाण का प्रतीक बनाकर कवि कहना चाहता है कि पलाल, तृण आदि के द्वारा अग्रि उतनी दीप्त नहीं होती जितनी घृत के सिंचन से होती है। घृत से अग्रि

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर—दिसम्बर, 2002

43

प्रज्वलित होती है, बुझती नहीं। अतः निर्वाण का अर्थ भी यहां 'बुझना' की अपेक्षा 'दीप्ति' अधिक उपयुक्त है। जिसका जीवन धर्मानुगत होता है वह आत्मरमण से निरन्तर सुख को प्राप्त करता हुआ दीप्तिमान बनता है।

### भारुण्डपक्षी ( भारुण्डपक्षी )

काव्य-जगत् में स्वच्छन्द व्यक्तित्व के लिए प्रायः 'पक्षी' प्रतीक का प्रयोग होता है। यहां अप्रमत्त अवस्था का प्रतीक भारुण्ड पक्षी है। जैन साहित्य में यह व्यापक स्तर पर प्रचलित प्रतीक है-

सुतेसु यावी पडिबुद्धजीवी न वीससे पंडिए आसुपन्ने ।  
घोरा मुहुता अबलं सरीरं भारुण्डपक्षी व चरप्पमत्तो ॥<sup>14</sup>

आशुप्रज्ञ पंडित सोए हुए व्यक्तियों के बीच भी जागृत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। काल बड़ा घोर होता है। शरीर दुर्बल है। इसलिए भारुण्डपक्षी की भांति अप्रमत्त होकर विचरण करे। कवि का प्रतीक संदेश स्पष्ट है कि मृत्यु का कोई निश्चित समय नहीं है, क्षण भर भी प्रमाद मत करो। प्रमादी के चारों ओर से भय है। अप्रमादी अभय होकर विचरण करता है, अतः भारुण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त होकर विचरण करो।

भारुण्ड पक्षी प्रमाद रहित, लक्ष्य के प्रति सदा जागरूक एवं सतत प्रयत्नशील तथा संयम से युक्त होता है। अप्रमत्तता के इन्हीं गुणों को उद्घाटित करने 'भारुण्ड पक्षी' को प्रतीक बनाया गया है।

### पत्तं ( पात्रं )

पक्षी के सौन्दर्य को बढ़ाने वाला तथा निरन्तर उसके साथ रहने वाला उपकरण 'पत्तं' भिक्षु के भिक्षापात्र का प्रतीक बन गया है-

सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए ।  
पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए ॥<sup>15</sup>

संयमी मुनि पात्रगत लेप को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के आहार का संग्रह न करे। पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ जाता है वैसे ही मुनि अपने पात्रों को साथ ले, निरपेक्ष हो परिव्रजन करे।

श्लेष पर आधारित यह प्रतीक है। 'पत्तं' के दो अर्थ होते हैं-पत्र/पंख और भिक्षा-पात्र। कवि अभिप्रेत संप्रेष्य कथ्य यह है कि जैसे पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ता है, इसलिए उसे पीछे की कोई चिन्ता नहीं होती। वैसे ही भिक्षु अपने पात्र आदि उपकरणों को जहां जाए वहां साथ ले जाए, संग्रह कर न रखे, पीछे की चिन्ता से निरपेक्ष होकर विहार करे।<sup>16</sup>

## चेइए वच्छे ( चैत्यो वृक्षः )

कवि-मानस स्वभावतः प्रकृति का सहचर होता है। प्रकृति से उसका साहचर्य काव्यभाषा के लिए अनायास ही वरदान बन जाता है। प्रतीक के संदर्भ में भी प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का संयोजन पर्याप्त सहायक है। 'नमिपव्वज्जा' अध्ययन में 'चेइए वच्छे' नमि का प्रतीक बनकर उभरा है-

मिहिलाए चेइए वच्छे सीयच्छाए मणोरमे ।  
पत्तपुप्फलोवेए बहूणं बहुगुणे सया ॥<sup>17</sup>

मिथिला में एक चैत्यवृक्ष था- शीतल छाया वाला, मनोरम, पत्र, पुष्प और फलों से लदा हुआ और बहुत पक्षियों के लिए सदा उपकारी।

चैत्यवृक्ष को नमि राजर्षि का प्रतीक बनाकर कवि का कहना है कि राजर्षि के शीतल, सुखद आश्रय में सभी मिथिलावासी सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हर दृष्टि से नगरवासियों के लिए राजर्षि आधार बना हुआ था।

गाथा में प्रयुक्त 'बहूणं' शब्द भी चूर्णिकार के अनुसार द्विपद, चतुष्पद तथा पक्षियों का द्योतक है।<sup>18</sup>

## कुमुयं ( कुमुदं )

प्रकृति मनुष्य से भी अधिक संवेदनशील है। कवि-हृदय के अमूर्त उद्गारों की अभिव्यंजना के लिए विभिन्न प्रकृति-प्रतीक माध्यम बनते हैं। शरद्-ऋतु का कुमुद निर्लेपता का प्रतीक बनकर उपस्थित हुआ है-

वोछिंद सिणेहमप्पणो कुमुयं सारइयं व पाणियं ।  
से सव्वसिणेहवज्जिए समयं गोयम । मा पमायए ॥<sup>19</sup>

जिस प्रकार शरद्-ऋतु का कुमुद जल में लिस नहीं होता उसी प्रकार तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिस बन। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

कुमुद को निर्लेपता का प्रतीक बना भगवान् ने गौतम को स्नेहमुक्त होने का उपदेश दिया। कुमुद पहले जलमग्न होता है, बाद में जल के ऊपर आ जाता है। चिर संसृष्ट, चिरपरिचित होने के कारण गौतम का महावीर से स्नेह-बंधन है। महावीर नहीं चाहते कि कोई उनके स्नेह-बंधन में बंधे। इसलिए महावीर ने स्नेह के अपनयन के लिए कुमुद को प्रतीक बना गौतम को प्रेरणा दी।

## बहुस्सुतो के प्रतीक

बहुश्रुत कौन? 'बहुस्सुयं जस्स सो बहुस्सुतो'<sup>20</sup> -जो श्रुत का धारक है वह बहुश्रुत है। 'बहुस्सुयपुज्जा' में बहुश्रुत के प्रसंग में रूढ़ उपमानों के रूप में प्रतीकों का प्रभूत प्रयोग हुआ है।



बहुश्रुत के व्यक्तित्व का सर्वांगीण परिचय कराने वाली सोलह विशेषताएं प्रतीक रूप में प्रस्तुत हैं-

१. निर्मलता : शंख में निहित दूध की तरह निर्मल आभा वाला
२. जागरूकता : आकीर्ण अश्व की तरह निरन्तर जागरूक
३. शौर्यवीरता : अजेय योद्धा की तरह पराक्रमी
४. अप्रतिहतता : बलवान् हाथी की तरह समर्थ, अप्रतिहत
५. भारनिर्वाहकता : यूथाधिपति वृषभ की तरह भार-निर्वाहक, गण प्रमुख
६. दुष्प्रधर्षता/  
अनाक्रमणीयता : दुष्पराजेय सिंह की तरह अनाक्रमणीय (अन्यदर्शनी उस पर वैचारिक आक्रमण नहीं कर सकते)
७. अबाधित बल : वासुदेव की भांति अबाधित बल वाला
८. लब्धिसंपन्नता : ऋद्धिसंपन्न चक्रवर्ती की तरह योगज विभूतियों से संपन्न
९. स्वामित्व : देवाधिपति शक्र की भांति दिव्य शक्तियों का अधिपति
१०. तेजस्विता : सूर्य की भांति तेजस्वी (तप के तेज से)
११. कलाओं से परिपूर्णता : पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति समस्त कलाओं से परिपूर्ण
१२. श्रुतसंपन्नता : कोष्ठागार की भांति श्रुत से परिपूर्ण
१३. श्रेष्ठता : जम्बू वृक्ष की तरह श्रेष्ठ
१४. निर्मलता : निर्मल जल वाली शीता नदी की भांति निर्मल ज्ञान से युक्त
१५. अचल और दीप्तिमान् : मन्दर पर्वत की तरह अचल तथा ज्ञान के प्रकाश से दीप्त
१६. अक्षय ज्ञान : नाना रत्नों से परिपूर्ण स्वयम्भूरमण समुद्र की तरह अक्षय ज्ञान तथा अतिशयों से सम्पन्न।

ये सभी प्रतीक बहुश्रुत की आंतरिक शक्ति तथा तेजस्विता को प्रकट करते हैं।<sup>१</sup>

## विहारं ( विहारं )

विहार शब्द के अनेक अर्थ हैं—मनोरंजन, खेल, आमोद-प्रमोद, घूमना आदि। प्रस्तुत प्रसंग में विहार का प्रयोग एक अन्य अर्थ जीवन की समग्रता, मनुष्य जीवन के लिए किया गया है—

असासयं दट्टु इमं विहारं, बहुअंतरायं न य दीहमाउं ।  
तम्हा गिहंसि न रइं लहामो, आमंतयामो चरिस्सामु मोणं ॥<sup>22</sup>

हमने देखा है कि यह मनुष्य जीवन अनित्य है, उसमें भी विघ्न बहुत हैं और आयु थोड़ी है। इसलिए घर में हमें कोई आनन्द नहीं है। हम मुनिचर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते हैं।

## तमं तमेणं ( तमस्तमसि )

साहित्य जगत् में अंधकार निराशा, अवसाद या विपत्ति के रूप में प्रचलित है। उत्तराध्ययन में इस प्रचलित अर्थ से दूर न होते हुए भी, उसमें एक अन्य सूक्ष्म अर्थ को समाविष्ट कर विशिष्ट अर्थव्यंजना की है—

वेया अहीया न भवंति ताणं भुत्ता दिया निति तमं तमेणं ।<sup>23</sup>

वेद पढ़ने पर भी वे त्राण नहीं होते। ब्राह्मणों को भोजन कराने पर वे अन्धकारमय नरक में ले जाते हैं।

यहां 'तम' का अर्थ नरक और 'तमेणं' का अर्थ अज्ञान से किया है। 'तमंतमेणं' को एक शब्द तथा सप्तमी के स्थान पर तृतीया विभक्ति मानी जाए, तो इसका वैकल्पिक अर्थ—अन्धकार से भी जो अति सघन अन्धकारमय हैं वैसे रौरव आदि नरक होगा।<sup>24</sup>

यहां 'तमं तमेणं' शब्द अन्धकारमय नरक का प्रतीक है।

## साहाहि रुक्खो ( शाखाभिर्वृक्षो )

पहीणपुत्तस्स हु णत्थि वासो वासिट्ठि भिक्खायरियाइ कालो ।

साहाहि रुक्खो लहए समाहिं छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं ॥<sup>25</sup>

पुत्रों के चले जाने के बाद मैं घर में नहीं रह सकता। हे वाशिष्ठि! अब मेरे भिक्षाचार्य का काल आ चुका है। वृक्ष शाखाओं से समाधि को प्राप्त होता है। उनके कट जाने पर लोग उसे टूँठ कहते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में वृक्ष पुरोहित का प्रतीक है और शाखा शब्द पुरोहित पुत्रों का। वृक्ष शाखा से समाधि को प्राप्त होता है अर्थात् मेरे पुत्र संयम स्वीकार कर रहे हैं। शाखाएं मेरे से अलग हो रही हैं। कटी हुई शाखाओं वाला वृक्ष टूँठ कहलाता है। प्रतीक-संकेत है कि मैं टूँठ की तरह असहाय होकर नहीं जी सकता।

सिरं ( शिरः )

मानव जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य-प्राप्ति की व्यंजना इस प्रतीक के माध्यम से की है, जो व्यक्ति को जातिपथ, जन्ममरण के चक्र से मुक्त कर शाश्वत स्थान पर प्रतिष्ठित करती है-

तहेवुग्गं तवं किच्चा अब्बक्खित्तेण चेयसा ।  
महाबलो रायरिसी अद्दाय सिरसा सिरं ॥<sup>26</sup>

इसी प्रकार अनाकुल चित्त से उग्र तपस्या कर राजर्षि महाबल ने अपना शिर देकर शिर/मोक्ष को प्राप्त किया ।

कवि का वर्ण्य-विषय यहां शिर नहीं, वह तो अप्रस्तुत है । प्रस्तुत है-वह उच्चतम स्थान जिसे प्राप्त कर व्यक्ति शाश्वत आनंद में रमण करने लगता है ।

शरीर में सबसे ऊंचा स्थान शिर का है तथा लोक में सबसे ऊंचा मोक्ष, अपवर्ग है । इस समानता के कारण शिर स्थानीय मोक्ष को 'सिर' कहा है ।<sup>27</sup>

'सिरसा' शब्द भी जीवन निरपेक्षता का प्रतीक है । सिर दिए बिना अर्थात् जीवन निरपेक्ष हुए बिना साध्य की उपलब्धि नहीं होती । 'सिरसा' शब्द में 'इष्टं साधयामि पातयामि वा शरीरम्' की प्रतिध्वनि है ।

**कावोया ( कापोती )**

भिक्षु षट्जीवनिकाय का रक्षक होने से स्वयं भोजन नहीं बनाता । गृहस्थ के द्वारा स्वयं के लिए बनाये हुए भोजन में से उसका कुछ अंश लेकर अपना जीवन निर्वाह करता है । जैन साहित्य में भिक्षुओं के भिक्षा का नामकरण पशु-पक्षियों के नामों के आधार पर किए गए हैं । यथा-माधुकरीवृत्ति, कापोतीवृत्ति, अजगरीवृत्ति आदि । प्रस्तुत प्रसंग में कापोतिवृत्ति भिक्षु की भिक्षावृत्ति का प्रतीक है-

कावोया जा इमा वित्ती केसलोओ य दारुणो ।  
दुक्खं बंभवयं घोरं धारेउं अ महप्पणो ॥<sup>28</sup>

यह जो कापोती-वृत्ति ( कबूतर के समान दोष-भीरु वृत्ति), दारुण केश-लोच और घोर-ब्रह्मचर्य को धारण करना है, वह महान् आत्माओं के लिए भी दुष्कर है ।

यह प्रतीक दोष-भीरु वृत्ति का संवाहक बनकर आया है । वृत्तिकार ने कापोतीवृत्ति का अर्थ किया है-कबूतर की तरह आजीविका का निर्वहन करने वाला । जिस प्रकार कापोत धान्यकण आदि को चुगते समय नित्य सशंक रहता है, उसी प्रकार भिक्षाचर्या में प्रवृत्त मुनि एषणा आदि दोषों के प्रति सशंक होता है ।<sup>29</sup>

**किंपागफलाणं ( किम्पाकफलानां )**

भोगों की विरसता के निदर्शन के लिए 'किंपाकफल' को प्रतीक बनाया गया है-  
जहा किंपागफलाणं परिणामो न सुंदरो । एवं भुत्ताणं भोगाणं परिणामो न सुंदरो ॥<sup>30</sup>

जिस प्रकार किम्पाक फल खाने का परिणाम सुन्दर नहीं होता उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता।

प्रतीक का संदेश है कि किंपाकफल देखने में बहुत सुन्दर और खाने में अति स्वादिष्ट होता है। किन्तु उसको खाने का परिणाम प्राणान्त है। वैसे ही भोग भोगते समय सुखानुभूति होती है पर उसका परिणाम सुन्दर नहीं होता।

परिणाम-अभद्रता का प्रतीक किंपाकफल भोग सेवन के दुःखद परिणाम का निर्देश करता है।

### विज्जुसोयामणिप्यभा ( विधुत्सौदामिनीप्रभा )

क्षणिकता, स्फूर्ति, त्वरिता, दीप्ति, ओज आदि जीवन-तत्त्वों का अंतःकरण में एक साथ संचार करने वाले प्रतीक का प्रयोग उत्तराध्ययन में राजीमती की शारीरिक कांति, दीप्ति द्योतित करने के प्रसंग में हुआ है-

अह सा रायवरकन्ना सुसीला चारुपेहिणी ।

सव्वलक्खणसंपुन्ना विज्जुसोयामणिप्यभा ॥<sup>31</sup>

वह राजकन्या सुशील चारुप्रेक्षणी, स्त्री-जनोचित सर्व-लक्षणों से परिपूर्ण और चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी।

सर्वलक्षण-युक्त राजीमती के शारीरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए 'विद्युत्' प्रतीक के रूप में उपन्यस्त किया गया है।

### दुट्टस्सो ( दुष्टाश्वः )

दुष्ट-अश्व को मन का प्रतीक बनाकर कवि कहते हैं-

अयं साहसिओ भीमो दुट्टस्सो परिधावई ।

जंसि गोयम। आरूढो कहं तेण न हीरसि? ॥<sup>32</sup>

यह साहसिक, भयंकर, दुष्ट-अश्व दौड़ रहा है। गौतम! तुम उस पर चढ़े हुए हो। वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता?

इस प्रतीक से कवि कहना चाहते हैं कि मन रूपी अश्व को श्रुत रूपी लगाम से बांधकर सन्मार्गगामी बनाओ।

### भाणू ( भानूः )

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अंधकार से प्रकार की ओर ले चल। यह प्रकाश अस्मिता व सर्वज्ञता का है। मोक्ष का मार्ग तपोमयी साधना की अपेक्षा रखता है। जिसका संसार क्षीण हो चुका है, जो सर्वज्ञ है, तप के तेज से दीप्त है, उस देदीप्यमान ज्योति-पुंज को बिम्बायित करने में 'भाणू' प्रतीक सटीक और सक्षम है-

उग्गओ विमलो भाणू सव्वलोगप्यभंकरो । सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगंमि पाणिणं ॥<sup>33</sup>

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर—दिसम्बर, 2002

समूचे लोक में प्रकाश करने वाला एक विमल भानु उगा है। वह समूचे लोक में प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।

तेजस्विता का पुंज सूर्य यहां प्राणियों के अज्ञान तथा मोह रूपी अंधकार को नष्ट करने वाले अर्हत् रूपी भास्कर का प्रतीक बनकर उपस्थित हुआ है।

महावीर रूपी सूर्य का पृथ्वी पर अवतरण प्राणियों के लिए उज्ज्वल भविष्य का सूचक है।

### सारही ( सारथि: )

सारथि शब्द पथप्रदर्शक का प्रतीक है। कवि ने इस प्रचलित अर्थ को ध्यान में रखकर आचार्य के प्रतीक के रूप में यहां प्रस्तुत किया-

अह सारही विचिंतेइ खलुंकेहिं समागओ।

किं मज्झ दुट्टसीसेहिं अप्पा मे अवसीयई ॥<sup>34</sup>

कुशिष्यों द्वारा खिन्न होकर सारथी ( आचार्य ) सोचते हैं-इन दुष्ट शिष्यों से मुझे क्या? इनके संसर्ग से मेरी आत्मा असवन्न-व्याकुल होती है।

‘सारही’ का शाब्दिक अर्थ है-रथवान्, मार्गप्रदर्शक। प्रस्तुत प्रसंग में यह लाक्षणिक प्रयोग आचार्य के प्रतीक के रूप में हुआ है। जैसे सारथि उत्पथगामी या मार्गच्युत बैल या घोड़े को सही मार्ग पर ला देता है, वैसे ही आचार्य भी अपने शिष्यों को मार्ग पर ला देते हैं।<sup>35</sup>

### अंतकिरियं ( अन्तक्रियां )

मोक्ष के प्रतीक-रूप में ‘अंत’ शब्द का प्रयोग-

नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणो ववत्तिगं आराहणं आराहेइ ॥<sup>36</sup>

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बोधिलाभ से संपन्न व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति या वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है।

अन्त का तात्पर्य है भव या कर्मों का विनाश। उसको फलित करने वाली क्रिया अन्तक्रिया कहलाती है। यहां तात्पर्यार्थ के रूप में ‘अन्त’ शब्द मोक्ष का प्रतीक है।

### सप्ये ( सर्प: )

दुर्व्यहार, कटु भाषण, छल-कपट आदि की प्रस्तुति के लिए ‘सर्प’ प्रतीक प्रयुक्त होता रहा है। उत्तराध्ययन के ऋषि ने इस प्रचलित प्रतीक को गंधासक्ति की अभिव्यंजना हेतु अपनी काव्य-भाषा का उपकरण बनाया है-

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।

रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे सप्ये बिलाओ विव निक्खमंते ॥<sup>37</sup>

जो मनोज्ञ गंध में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे नाग-दमनी आदि औषधियों के गंध में गृद्ध बिल से निकलता हुआ रागातुर सर्प।

प्रत्यक्षतः सर्प दूसरों का घातक होता हुआ भी यहां गंध में आसक्त होता हुआ स्वयं के द्वारा ही अकाल में विनाश को प्राप्त होता है।

### इंद्रियचारेवस्से ( इन्द्रियचोरवश्यः )

विषयों में प्रवृत्त इन्द्रियां भीतर बैठे चैत्यपुरुष को सुला देती है। अतः यहां चोर के प्रतीक के रूप में 'इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग नवीनतम है-

कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू पच्छाणुतावे य तवप्पभावं ।

एवं वियारे अमियप्पियारे आवज्जई इंदियचोरवस्से ॥<sup>38</sup>

'यह मेरी शारीरिक सेवा करेगा'-इस लिप्सा से कल्प, योग्य शिष्य की भी इच्छा न करें। तपस्या के प्रभाव की इच्छा न करें और तप का प्रभाव न होने पर पश्चात्ताप न करें। जो ऐसी इच्छा करता है वह इन्द्रियरूपी चोरों का वशवर्ती बना हुआ अपरिमित विकारों को प्राप्त होता है।

इन्द्रियां ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षायोपशमिक भाव हैं। जब वे राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति में लिस हो जाती हैं तब मनुष्य का धर्मरूपी सर्वस्व छिन जाता है। अतः चोर के प्रतीक के रूप में इन्द्रियों का साभिप्राय प्रयोग उपयुक्त है। यह रूपकात्मक प्रतीक है।

### निष्कर्ष

उत्तराध्ययन में प्रयुक्त प्रतीकों का शैली वैज्ञानिक-अध्ययन रचनाकार की प्रतीक-निर्मिति का अभिनव आयाम प्रस्तुत करते हैं। कवि कल्पना से निःसृत कुछ नए प्रतीक भी प्रयुक्त हुए हैं। एक ओर कवि कल्पना वस्तु-जगत् पर प्रतीकत्व का आरोप करती है तो दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान के अन्य स्रोतों के प्रतीकों के संग्रहण से भाषिक संरचना में नवीनता तथा रोमांचकता बढ़ जाती है। ऐसे प्रतीक भी हैं जो साहित्य जगत् में अल्प-प्राप्त या अप्राप्त हैं-यह ऋषि की अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का प्रमाण है। इस प्रकार बहुविध प्रतीक-प्रयोग में रचनाकार सफल रहे हैं।

### सन्दर्भ :

1. गीता रहस्य, पृ. ४३५
2. श्रीमद् भागवत् की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन पृ. २३२
3. डॉ. विद्या-निवास मिश्र, रीति-विज्ञान पृ. ५७
4. काव्यबिम्ब, पृ. ७-८
5. साहित्यशास्त्र, पृ. 469
6. उत्तराध्ययन १/५

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर—दिसम्बर, 2002

51

7. उत्तर. १/४५
8. उत्तर. २/४
9. संस्कृत धातुकोष पृ. ३६
10. उत्तर. २/१८
11. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ४८२ : लाठेसु अ उवसग्गा, घोरा..... । ततो भगवान् लाढासु जनपदे गतः तत्र घोरा उपसर्गा अभवन् ।
12. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : 'लाढे' त्ति सदनुष्ठानतया प्रधानः ।
13. उत्तर. ३/१२
14. उत्तर. ४/६
15. उत्तर. ६/१५
16. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १५६ : यथासौ पक्षी तं पत्रभारं समादाय गच्छति एवमुपकरणं भिक्षुरादाय णिरवेकखी परिव्वए ।
17. उत्तर. ९/९
18. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १८२ : बहूणं दुप्पयच्चउप्पदपक्खीणं च
19. उत्तर. १०/२८
20. निशीथ पीठिका भाष्य चूर्णि, पृ. ४९५
21. उत्तर. 11/15-30
22. उत्तर. १४/७
23. उत्तर. १४/२२
24. बृहद्वृत्ति, पत्र ४००
25. उत्तर. १४/२९
26. उत्तर. १८/५०
27. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४७ : 'शिरं' ति शिर इव शिरः सर्वजगदुपरिवर्तितया मोक्षः ।
28. उत्तर. १९/३३
29. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६/४५७
30. उत्तर. १९-१७
31. उत्तर. २२/७
32. उत्तर. २३/५५
33. उत्तर. २३/७६
34. उत्तर. २७/१५
35. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५३
36. उत्तर. २९, सूत्र १५
37. उत्तर. ३२/५०
38. उत्तर. ३२/१०४

सम्पर्क सूत्र- जैन विश्व भारती  
लाडनू (राजस्थान)

# कर्मबंध की प्रक्रिया

— साध्वी श्रुतयशा

अध्यात्म का केन्द्र है — आत्मा। आत्मा के पारमार्थिक या शुद्धस्वरूप का विवेचन करते समय उसके व्यावहारिक स्वरूप पर विमर्श करना भी अपेक्षित हो जाता है। दृश्यमान जगत की विभिन्नता एवं विचित्रता का यौक्तिक समाधान है — कर्मवाद। कर्म की स्वीकृति के बिना जीव के वैभाविक स्वरूप का प्रतिपादन सम्भव नहीं। अतः कर्मवाद अध्यात्म-विद्या का महत्वपूर्ण अध्याय है।

बंध का सामान्य अर्थ है — संश्लेष, अनेक पदार्थों का एकीभाव। वह तीन प्रकार का है —

- जीवबंध** — जीव के पर्यायभूत रागादि प्रत्यय जो उसे संसार व धन-परिजन के साथ बांधते हैं।
- अजीवबंध** — परमाणुओं में पाए जाने वाले स्निग्ध व रुक्ष स्पर्श जो परमाणु-स्कन्ध बनाते हैं।
- उभयबंध** — जीव के प्रदेशों के साथ होने वाला कर्म-परमाणुओं का सम्बंध इस आलेख में उभयबंध की प्रक्रिया का निरूपण किया जा रहा है।

सभी आस्तिक दर्शन जगत-वैचित्र्य का हेतु कर्म को मानते हैं। वेदान्त दर्शन कर्म को अविद्या, बौद्ध वासना, सांख्य क्लेश, न्याय-वैशेषिक अदृष्ट या धर्माधर्म तथा मीमांसक उसे अपूर्व कहते हैं। जैनदर्शन के अतिरिक्त प्रायः सभी दर्शन कर्म को संस्कार या वासना रूप मानते हैं, अतः उभय बंध की प्रक्रिया वहां स्पष्टतः परिलक्षित नहीं होती। जैनदर्शन कर्म की पौद्गलिक सत्ता स्वीकार करता है, क्योंकि जो जिस वस्तु का गुण या पर्याय होता है वह उसका विघातक या आवारक नहीं होता। कर्म आत्मा के लिए आवरण, पारतंत्र्य एवं दुःख के हेतु हैं। अतः वे केवल संस्कार या वासना मात्र नहीं। वे बेड़ी एवं शराब के समान पौद्गलिक हैं। बेड़ी या शराब स्थूल



बाह्य निमित्त हैं, अल्प सामर्थ्य वाले हैं। कर्म आन्तरिक निमित्तों — रागद्वेषात्मक परिणतियों से आत्मा के साथ एकीभूत हो जाते हैं, सूक्ष्मतम स्कंध हैं, अतः उनका सामर्थ्य व प्रभाव बेड़ी आदि की अपेक्षा अधिक होता है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा और कर्म का संश्लेष होना बंध है। वाचक उमास्वाति के अनुसार सकषायी जीव कर्म के योग्य परमाणुओं को ग्रहण करता है, वह बंध है।<sup>1</sup> आचार्य हरिभद्र ने बंध को परिभाषित करते हुए लिखा है कि आत्मा और कर्म का जो परस्परानुग सम्बंध हैं वहीं बंध है।<sup>2</sup> पूज्यपाद ने बंध को विस्तार से परिभाषित करते हुए बताया — मिथ्यादर्शन आदि अभिनिवेशों से आर्द्र बने हुए आत्मा के योग विशेष से, उन सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही, कर्मभाव को प्राप्त होने योग्य अनन्तानन्त पुद्गलों का उपश्लेष होना बंध है।<sup>3</sup> अकलंक के अनुसार कर्मप्रदेशों का आत्मप्रदेशों में एकक्षेत्रावगाह हो जाना बंध है।<sup>4</sup> इस प्रकार कर्मपुद्गलों का आदान एवं आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हो जाना बंध है।

यह कर्मबंध कैसे होता है? इसकी क्या प्रक्रिया है? इसमें मुख्य हेतु क्या हैं? क्या इसकी कोई निश्चित कालमर्यादा है? इसका परिमाण कितना होता है? कौन-सा कर्म कितनी मात्रा में आत्मतत्त्व को प्रभावित करता है? कर्म के कार्य (प्रकृति) का निर्धारण करने वाला तत्त्व क्या है? उसकी काल-स्थिति को कौन निश्चित करता है? कर्म के रसबंध के कितने प्रकार हो सकते हैं? आदि प्रश्नों के संदर्भ में जैनदर्शन में विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

जैनदर्शन के अनुसार सकर्मा जीव ही कर्मबंध करता है। कर्ममुक्त आत्मा में प्रवृत्ति एवं दोष (कषाय) का अभाव होता है, अतः कर्मबंध उसी प्रकार सम्भव नहीं जैसे सूखी दीवार पर रेत का चिपकना। जिस प्रकार तेज हवा के निमित्त से चिकनी दीवार पर रेत का जमाव अधिक व सघन होता है उसी प्रकार योग और कषाय की न्यूनाधिकता बंध की व्यवस्था को प्रभावित करती हैं। कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मा के साथ तभी संश्लेष हो सकते हैं जब मानसिक, वाचिक या शारीरिक प्रवृत्ति के रूप आंधी से उनका आकर्षण हो और कषाय रूप लेप से आत्मा में चिपचिपाहट हो। आत्मा और कर्म का 'स्नेह' उनके बंध का कारण बनता है। इसीलिए भगवतीसूत्र में बंध के विषय में 'अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा' शब्द का प्रयोग किया गया है।<sup>5</sup> यहां स्नेह शब्द से पुद्गलों के संदर्भ में स्निग्ध एवं रुक्ष स्पर्श तथा आत्मा के लिए संदर्भ में राग द्वेषमय आत्मपरिणाम विवक्षित हैं। बंध की प्रक्रिया में दोनों प्रकार के स्नेह वैसे ही जरूरी हैं, जैसे विद्युत में पोजिटिव नेगेटिव चार्ज।

बंध-प्रक्रिया को भलीभांति समझने के लिए उसके चार प्रकारों को जानना आवश्यक है —

1. प्रकृतिबंध — कर्मों का स्वभाव।
2. स्थितिबंध — जीव के साथ कर्म के सम्बंध की कालावधि।
3. अनुभागबंध — कर्मपुद्गलों में फल-प्रदान करने वाली शक्ति विशेष।
4. प्रदेशबंध — कर्म-पुद्गलों का परिमाण, मात्रा।

इस चतुर्विध बंध को कर्मबंध में मोदक के दृष्टांत से समझाया गया है<sup>१</sup> जिस प्रकार सोंठ, मिर्च, पीपल आदि वातनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डू का स्वभाव वायु का नाश करना होता है वहां यदि पित्तनाशक पदार्थों से बना हुआ हो तो उसका स्वभाव पित्तशमन का हो जाता है उसी प्रकार जैसी प्रवृत्ति से कर्म का आकर्षण होता है, कर्मपुद्गलों का स्वभाव भी वैसा ही हो जाता है, जैसे ज्ञानान्तराय की प्रवृत्ति से बंधे कर्म ज्ञान को आवृत्त करते हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न विधियों से बनाये हुए लड्डू भिन्न-भिन्न कालावधि तक टिक सकते हैं, खराब नहीं होते वैसे ही कर्म-पुद्गल भी एक निश्चित कालावधि तक आत्मा के साथ बंधे रहते हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों एवं उनकी पृथक्-पृथक् मात्रा के आधार पर लड्डूओं का स्वाद भी भिन्न-भिन्न होता है वैसे ही कषाय की अल्पता या बहुलता से कर्मपुद्गलों को मंद या तीव्र विपाक शक्ति का आधान होता है। जिस प्रकार द्रव्य की मात्रा के अनुसार मोदक के परिमाण का निर्धारण होता है उसी प्रकार योग की तीव्रता और मन्दता से कर्म पुद्गलों की इयत्ता निश्चित होती है।

बंध के उपर्युक्त चारों प्रकार उसी प्रकार सहभावी हैं जैसे मोदक निर्माण में उपर्युक्त चारों व्यवस्थाएं। आत्मा के साथ एकीभाव की दृष्टि से प्रदेश बंध का स्थान प्रथम है। इसके होते ही उनमें स्वभाव, कालस्थिति एवं फलस्थिति का निर्धारण हो जाता है। अमुक-अमुक स्वभाव, काल एवं रस वाला पुद्गलवर्ग अमुक-अमुक परिमाण में बंट जाता है — यह परिमाण-विभाग भी प्रदेश बंध है, अतः इसे अंतिम भी कहा जा सकता है।<sup>१</sup>

1. **प्रकृतिबंध** — प्रकृति का अर्थ है स्वभाव<sup>१</sup> वाचक उमास्वाति की इस परिभाषा को सोदाहरण समझाते हुए पूज्यपाद ने लिखा — जैसे नीम का स्वभाव तिक्त होता है वैसे ही अर्थ की अवगति न होने देना ज्ञानावरण का स्वभाव है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्मस्कंध की अपनी-अपनी प्रकृति होती है। दिगम्बर साहित्य में प्रकृति का यही अर्थ अभीष्ट है। प्राचीन काल में श्वेतांबर साहित्य में प्रकृति का अर्थ समुदाय भी रहा है —

**ठिड़ बंधदलस्स ठिड़, पएसबंधो पासगहणं जं।**

**वाणरसो अणुभागो, तस्सगुदायो पगइबंधो।**<sup>१</sup> पर वर्तमान में प्रकृति का स्वभाव अर्थ ही प्रचलित है।

जीव की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट एवं कषाय द्वारा आबद्ध सारी कर्मवर्गणा स्वभावतः एकरूप ही होती हैं और जीव भी इन्हें एक साथ ग्रहण करता है पर जीव के द्वारा गृहीत होने के अनन्तर ही उनमें भिन्न-भिन्न स्वभावों का निर्माण हो जाता है। कोई कर्मस्कन्ध ज्ञान और दर्शन को आवृत्त करते हैं तो कोई दुष्टि एवं आचरण को मूढ़ बनाते हैं। कुछ कर्मस्कन्ध जाति, नाम, गोत्र आदि शक्तियों से युक्त होकर आत्मा के साथ बंध जाते हैं। कर्मस्कन्धों के स्वभाव निर्माण की प्रक्रिया को पूज्यपाद ने बहुत ही व्यावहारिक उदाहरण से समझाया है — जिस प्रकार एक बार में खाया हुआ अन्न अनेक विकारों में समर्थ, वात, पित्त, कफ, श्लेष्म, खल, रस आदि में परिणत हो जाता है उसी प्रकार कर्म भी जीव के साथ संश्लिष्ट होकर नाना रूपों में परिणत हो जाते हैं।<sup>१०</sup> अकलंक ने इसे काफी विस्तार से विवेचित किया है।<sup>११</sup>

प्रकृति के असंख्यात प्रकार हो सकते हैं<sup>12</sup> पर संक्षेप में उसके दो प्रकार होते हैं—  
मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति। मूलप्रकृति आठ हैं—

1. ज्ञानावरणीय — ज्ञान को आवृत्त करना।
2. दर्शनावरणीय — दर्शन को आवृत्त करना।
3. वेदनीय — सुख और दुःख का हेतु बनना।
4. मोहनीय — दृष्टि एवं चारित्र को विपर्यस्त करना।
5. आयुष्य — भवस्थिति को प्राप्त करवाना।
6. नाम — शुभ और अशुभ व्यक्तित्व आदि नाना पर्यायों का हेतु बनना।
7. गोत्र — उच्चता-नीचता, सम्मान-अपमान का हेतु बनना।
8. अन्तराय — आत्मशक्ति को प्रतिहत करना।<sup>13</sup>

इन कर्मप्रकृतियों को क्रमशः आच्छादन-पट, प्रतीहार, मधुलिप्त तलवार, मद्य, पैर फंसाने का खोड़ा, चित्रकार, कुम्भकार और भण्डारी के दृष्टान्त से बहुत सरलता से समझा जा सकता है—

**पड-पडिहारसिमज्जाहडि-चित्तकुलालमंडयारीणं।**

**जह एदेसिं भावा वह वि य कम्मा मुणेयव्वा।<sup>14</sup>**

इनमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय — ये चार घात्यकर्मप्रकृतियाँ हैं, आत्मगुणों का घात करती हैं, अतः एकान्ततः अशुभ हैं। घात्यकर्मों का क्षय करने के लिए आत्मा को तीव्र पुरुषार्थ करना पड़ता है। शेष चार प्रकृतियाँ अघाती हैं। वे इष्ट और अनिष्ट संयोग का निमित्त होने से शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की हैं। अघात्य कर्म भवोपग्राही हैं, अतः सशरीरी के लिए अनिवार्य हैं। वेदनीय कर्म अघाति है और अन्तराय घाति फिर इनका क्रम यह क्यों? पहले घाति और बाद में अघाति कर्मों का ग्रहण क्यों नहीं? इस विषय में विभिन्न मन्तव्य हैं—

भगवतीसूत्र के अनुसार ज्ञानावरण के तीव्र उदय से दर्शनावरण का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से मोह का तथा मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के आठों ही कर्मों का बंध होता है।<sup>15</sup> इस निमित्त-नैमित्तिक अपेक्षा से कर्मप्रकृतियों का क्रमनिर्धारण हो सकता है पर इसमें पूरी व्यवस्था निर्दिष्ट नहीं है।

अकलंक के अनुसार जीव के सब गुणों में साकार उपयोग-ज्ञान प्रधान है और उपलब्धि रूप होने से दर्शन का द्वितीय स्थान है, अतः सर्वप्रथम उन दोनों का ग्रहण किया गया। वेदना ज्ञान और दर्शन की अव्यभिचारिणी होने से तदनन्तर वेदनीय का कथन किया गया। मोहाभिभूत प्राणी को हित-अहित का विवेक नहीं रहता, अतः ज्ञान, दर्शन और वेदना के प्रतिपक्षभूत मोहनीय को चतुर्थ स्थान प्राप्त हुआ। इन सबका अनुभव आयु के निमित्त से

होता है। आयु के आधार पर गति, शरीर आदि नामकर्म के उदय अनुसार शुभ या अशुभ गोत्र की अभिव्यक्ति होती है। इस क्रम से सातों प्रकृतियों के उल्लिखित हो जाने पर अंत में अन्तराय का कथन किया गया है।<sup>16</sup> गोम्मटसार कर्मकाण्ड का मन्तव्य भी प्रायः इसी प्रकार का है।<sup>17</sup>

कर्मग्रंथ की परम्परा के अनुसार वेदनीय कर्म कथंचित् घातिया है, अतः इसका कथन घातिकर्मों के मध्य हुआ है। वीर्य चेतन के समान अचेतन में भी होता है, अतः वह चेतना का व्यवच्छेदक धर्म नहीं। वीर्य को प्रवाहित करने वाला अन्तराय कर्म कथंचित् अघातिया है, क्योंकि वह जीव के गुण का सर्वथा घात नहीं करता तथा उसका उदय नाम आदि के निमित्त से होता है, अतः उसका कथन उन सबके बाद किया गया है।

प्रस्तुत कर्म-व्यवस्था के संदर्भ में पंचसंग्रह टीका, कर्मविपाक टीका, श्री जयसोमसूरि कृत टब्बे एवं श्री जीवविजय कृत बालावबोध आदि का मन्तव्य बताते हुए पण्डित सुखलालजी का कहना है कि ज्ञानदर्शनात्मक उपयोग में ज्ञान प्रधान है, क्योंकि मोक्ष पर्यन्त सभी लब्धियां साकार उपयोग में प्राप्त होती हैं, अतः सर्वप्रथम ज्ञानावरण का कथन किया गया। मुक्त जीवों में ज्ञान के पश्चात् दर्शनोपयोग होता है, अतः तदनन्तर दर्शनावरण का व्यपदेश किया गया। इन दोनों का तीव्र उदय दुःख तथा क्षयोपशम सुख वेदन का कारण बनता है, अतः वेदनीय को तृतीय स्थान मिला। वेदनीय की अनुभूति रागद्वेष की उत्पत्ति का निमित्त बनती है, इसलिए उसके बाद मोहनीय का कथन किया गया। मोहाकुल जीव आरम्भ आदि के द्वारा आयु का बंध करता है, आयुष्य का उदय गति आदि नामकर्मों को भोगने का निमित्त बनता है, नामकर्म की विभिन्न प्रकृतियों से उच्चगोत्र और नीचगोत्र के विपाकोदय को अवकाश मिलता है, नीच और उच्चगोत्र का विपाक क्रमशः दानान्तराय के उदय और क्षयोपशम का निमित्त बनता है, इसलिए उदय सम्बंधी इस निमित्त-नैमित्तिक-भाव से मूल कर्मप्रकृतियों की उपर्युक्त क्रमश-व्यवस्था उपयुक्त है।<sup>18</sup>

इन आठ कर्म प्रकृतियों के क्रमशः पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, एक सौ तीन, दो और पांच भेद करने पर उत्तर प्रकृतियों की कुल संख्या 158 हो जाती है—**पण-नव-दु-अट्टवीस-चउ-तिसय-दु पणविहं**।<sup>19</sup> जैनतर दर्शनों में कर्म के इतने स्वभावों की चर्चा उपलब्ध नहीं होती।

स्थितिबंध—‘कालावरधारणं स्थितिः’<sup>20</sup> आत्मा और कर्म पुद्गलों का संश्लेष एक निश्चित समयावधि के लिए होता है, उस कालखण्ड के बाद उन्हें अवश्य ही वियुक्त होना पड़ता है। काल की यह निश्चितता स्थिति-बंध कहलाती है। कर्म करते समय प्राणी की कषाय जिस मात्रा में उद्दीप्त होती है, अशुभ कर्मों की स्थिति उतनी ही सुदीर्घ हो जाती है। कषाय जितनी मंद, मंदतर स्थिति वाली होती है, शुभकर्मों का स्थितिबंध उतना ही अधिक होता है। इसके विपरीत उस समय किए गए अशुभकर्मों की स्थिति अल्प, अल्पतर होती है।

**तीव्र कषाय**— अशुभ कर्मों की दीर्घस्थिति शुभ कर्मों का अबंध अथवा अल्पस्थिति।

**मंदकषाय**— शुभ कर्मों की दीर्घस्थिति। अशुभ कर्मों की अल्पस्थिति।

जिस समय जघन्य कषायांश का उदय होता है उस समय वह अपनी प्रकृति का बंध नहीं कर सकता, जैसे क्रोध का अंतिम विपाकोदय क्रोध मोहनीय का बंध करने में असमर्थ होता है। कषाय की अनुदयावस्था में स्थिति बंध नहीं होता, क्योंकि कर्मों को संश्लिष्ट करने वाले स्नेह का अभाव हो जाता है। यही कारण है कि अकषाय अवस्था में होने वाला ईर्यापथिक बंध द्विसामयिक स्थिति वाला होता है। कषाय की तुलना हम अन्य दर्शनों में दोष के साथ कर सकते हैं। दोषरहित प्रवृत्ति बंध का कारण नहीं बनती।

प्रत्येक कर्म प्रकृति की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति का सामान्य नियम इस प्रकार है —

कर्मप्रकृति	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
ज्ञानावरण	30 कोटिकोटि सागर	अन्तर्मुहूर्त्त
दर्शनावरण	30 कोटिकोटि सागर	अन्तर्मुहूर्त्त
वेदनीय	30 कोटिकोटि सागर	12 मुहूर्त्त
मोहनीय	70 कोटिकोटि सागर	अन्तर्मुहूर्त्त
आयुष्य	33 सागर	अन्तर्मुहूर्त्त
नाम	20 कोटिकोटि सागर	8 मुहूर्त्त
गोत्र	20 कोटिकोटि सागर	8 मुहूर्त्त
अन्तराय	30 कोटिकोटि सागर	अन्तर्मुहूर्त्त <sup>1</sup>

कर्मबंध की यह उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति मूल प्रकृतियों की दृष्टि से समुच्चय रूप में बताई गई है। उत्तरप्रकृतियों की दृष्टि से उनमें कई स्थानों पर विषमता भी देखी जाती है, जैसे मोह कर्म की उत्कृष्ट स्थिति दर्शनमोह की अपेक्षा से निर्दिष्ट है, चारित्रमोह की उत्कृष्ट स्थिति 40 कोटिकोटि सागर है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति सकषायी अवस्था की अपेक्षा से बताई गई है, क्योंकि वीतराग के दो समय स्थिति वाले सातवेदनीय कर्म का बंध होता है। आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति भी देव और नारकों की अपेक्षा से कही गई है, मनुष्य एवं तिर्यंच का आयुष्य इतना नहीं होता। इसी प्रकार नाम, गोत्र आदि कर्मों के विषय में भी भिन्नताएं देखी जा सकती हैं। स्थिति बंध के सामान्य नियम के अनुसार कुछ अपवादों के अतिरिक्त प्रायः सभी प्रशस्त प्रकृतियों की स्थिति अप्रशस्त प्रकृतियों की अपेक्षा कम होती हैं, क्योंकि प्रशस्त प्रकृतियों का बंध मन्दतर, मन्दतम और अत्यधिक मंद कषाय के समय होता है।

प्रकृतिबंध के समान स्थितिबंध की इतनी विस्तृत चर्चा जैनदर्शन के अलावा किसी भी दर्शन में दृष्टिगोचर नहीं होती। कर्मों की स्थिति जितनी अधिक होती है उतना ही उनका अबाधाकाल — सुप्त या अनुदय का काल लम्बा होता है। यही कारण है कि एक भव में बंधा हुआ कर्म उस भव में तथा बाद में भी कई भवों तक उदय में नहीं आता, फिर दीर्घकाल तक उदय में आता है। स्थिति और अबाधाकाल के विषय में सूक्ष्म ज्ञान रखने वाले व्यक्ति के मन में जघन्य अपराधी को आनन्द और सज्जन व्यक्ति को दुःखी देखकर भी कर्मवाद के प्रति

आस्था नहीं डोलती, क्योंकि वह जानता है कि तीव्र कषाय में बंधे हुए कर्मों की स्थिति व अबाधाकाल इतना लम्बा होता है कि सामान्यतः यह अनुमान लगाना भी कठिन है कि यह अमुक कर्म का फल है।

**अनुभाग बंध**—रस, अनुभाग, अनुभाव, फल—ये सब एकार्थक हैं।<sup>22</sup> जीव के साथ बंधने से पूर्व कर्मपुद्गल एकरूप एवं नीरस होते हैं, उनमें फलदान की शक्ति नहीं होती। जीव के द्वारा गृहीत होने से उनमें राग-द्वेषमय आत्मपरिणामों से रस का आपादन होता है। बाहर पड़े सूखे घास में दूध रूप में परिणत होने की शक्ति नहीं होती पर गाय, बकरी आदि के द्वारा खाये जाने पर वे दूध रूप में परिणत हो जाते हैं और तदनुसार उनमें कम या अधिक चिकनाई भी आ जाती है उसी प्रकार लोकाकाश में फैले कार्मण स्कंधों में रस नहीं होता, जीव के साथ संश्लिष्ट होने पर उस प्रकार का परिणमन होता है।

कषाय के असंख्य प्रकार हो सकते हैं, अतः अनुभाग भी असंख्य प्रकार का हो सकता है। पर संक्षेप में उनका समावेश चार प्रकारों—एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक में हो जाता है, जैसे कषाय का समावेश अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संञ्चलन—इन चार प्रकारों में हो जाता है। कर्मग्रंथ<sup>23</sup> (5/65), पंचसंग्रह<sup>24</sup> (गा. 150) नन्दीसूत्र की मलयगिरीया वृत्ति<sup>25</sup> (पत्र) आदि में इन्हें क्वाथ के उदाहरण से समझाया गया है। नीम का ईख के स्वाभाविक रूप से उपलब्ध रस की कटुता और मधुरता को एकस्थानिक रस से उपमित किया जाता है। उसे ओटाकर क्वाथ बनाया जाए और वह आधा शेष बचे तो उसकी कटुता या मधुरता दुगुनी हो जाती है, वह द्विस्थानिक बंध के समान होता है। उसका एक तिहाई भाग शेष रहे तो उसकी रस-शक्ति तीव्रतम हो जाती है, इसे त्रिस्थानिक बंध से उपमित किया जाता है। ओटाने पर यदि एक चौथाई भाग ही क्वाथ में रूप में प्राप्त हो तो वह चतुःस्थानिक बंध के समान अत्यधिक तीव्र रस वाला हो जाता है।

तीव्रता के समान मन्दता के भी मुख्यतः चार प्रकार किए जा सकते हैं। रस में अल्पतम, अल्पतर, अल्प और अनल्प पानी मिलाने से वह क्रमशः मन्द, मन्दतर और अत्यधिक मन्द रस हो जाता है। किस कषाय के कारण शुभ और अशुभ प्रकृतियों के किस प्रकार के रस वाला बंध होता है, इसे निम्नोक्त तालिका के द्वारा समझा जा सकता है—

कषाय	शुभ कर्मबंध	अशुभ कर्मबंध
अनन्तानुबन्धी	अबन्ध	चतुःस्थानिक
अप्रत्याख्यानी	द्विस्थानिक	त्रिस्थानिक
प्रत्याख्यानी	त्रिस्थानिक	द्विस्थानिक
संञ्चलन	चतुःस्थानिक	एकस्थानिक

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि शुभ कर्म प्रकृतियों का एकस्थानिक बंध नहीं होता। पुण्य और पाप—इन दो भेदों का मूल आधार अनुभाग बंध है क्योंकि जिनका अनुभाग नीम, कंजीर आदि के समान कटुक व अमनोज्ञ होता है, पाप कहलाते हैं तथा मधुर एवं मनोज्ञ

अनुभाग वाले कर्म पुण्य कहलाते हैं। इसी प्रकार कर्मों का एक अन्य विभाग-घाति और अघाति कर्म भी रसबंध के आधार पर होता है। अमुक प्रकृतियों का उपशम का क्षयोपशम हो सकता है, अमुक का नहीं— इन अवस्थाओं के निमित्तभूत देशघाति एवं सर्वघाति रसस्पृहकों की दृष्टि से भी अनुभाग बंध का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अनुभागबंध जैनदर्शन का विशिष्ट सिद्धान्त है। इसके द्वारा कर्म में फलदान की स्वाभाविक शक्ति को स्वीकार किया गया है। जहां अन्य दर्शन कर्म फलदान के रूप में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं वहां जैनदर्शन स्पष्टतः उद्घोषणा करता है— नैतदर्थमीश्वरः कल्पनीयः।<sup>16</sup> कर्मों का लेखा-जोखा रखने एवं शुभ या अशुभ कर्मों का पुरस्कार या दण्ड देने के लिए किसी अन्य न्यायाधीश रूपी ईश्वर की अपेक्षा नहीं। भोजन, औषध एवं शराब जड़ पदार्थ हैं। उनमें पुष्टि, आरोग्य एवं मद की शक्ति की स्वतः अभिव्यक्ति नहीं होती पर व्यक्ति के शरीर में जाने के बाद उसकी अभिव्यक्ति के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती, वे उस रूप में परिणत हो जाते हैं वैसे ही कर्मण स्कंधों में जीव से संश्लिष्ट होते ही स्वभावतः शक्ति का आपादन होता है। कर्ता के परिणाम स्वयं ही कर्म की शुभता-अशुभता, मन्दता-तीव्रता के नियामक होते हैं। इससे न्यायाधीश के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने से आने वाली विभिन्न समस्याएं भी स्वतः समाहित हो जाती हैं।

### प्रदेशबंध—

कर्मपुद्गलों की इयत्ता का अवधारण प्रदेशबंध है।<sup>17</sup> जैनदर्शन के अनुसार सम्पूर्ण लोक पुद्गलास्तिकाय से ठसाठस भरा हुआ है। पुद्गलों की अनेक प्रकार की स्कंध-वर्गणाएं हैं। उनमें से अनन्तानन्त वर्गणाएं जीव के ग्रहण-प्रायोग्य नहीं होती। उसके ग्रहणयोग्य वर्गणाएं आठ हैं— औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन एवं कर्मण। इनमें औदारिक वर्गणा सबसे स्थूल एवं कर्मण वर्गणा सबसे सूक्ष्म है। कर्मण वर्गणा के पुद्गलों में चार स्पर्श, दो गंध, पांच वर्ण एवं पांच रस होते हैं। प्रति समय ग्रहण करने वाले इन स्कंधों में सर्वजीव राशि से अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेकों (रसाणुओं की शक्ति का सबसे छोटा अंश) के धारक अनन्त प्रदेश होते हैं।<sup>18</sup> जिस प्रकार लोहे का गरम गोला पानी में डाला जाने पर सब ओर से पानी को खींचता है उसी प्रकार वीर्यान्तराय के क्षयोपशम एवं शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न प्रवृत्ति के कारण जीव सारे आत्मप्रदेशों से कर्मपुद्गलों को आकृष्ट करता है। जीव के द्वारा आकृष्ट होने वाले वे कर्मण स्कन्ध उन्हीं आकाश प्रदेशों पर अवस्थित होते हैं जिन पर उस जीव के आत्मप्रदेशों का अवस्थान होता है। इस बंध-प्रक्रिया में जीव का कोई प्रदेश आबद्ध-अस्पृष्ट नहीं रहता, इसीलिए भगवतीसूत्र में बंध को 'सव्वेणं सव्वे' पद से विशेषित किया गया है।

गोमटसार कर्मकाण्ड<sup>29</sup> और पंचसंग्रह<sup>30</sup> में भी इसी मन्तव्य का निरूपण मिलता है कि एक अभिन्न क्षेत्र में (उन्हीं आकाश प्रदेशों पर) अवस्थित, कर्म के योग्य द्रव्य को यह जीव अपने ही हेतुओं के द्वारा सब आत्मप्रदेशों से बांधता है।

सामान्यतः जीव प्रति समय सात-आठ कर्मों का बंध करता है। एक साथ ग्रहण किए हुए कार्मणस्कंधों को किस-किस परिमाण में विभाजित किया जाता है, विभाजन में किस कर्म को कितना अनुपात प्राप्त होता है — यह विभाग व्यवस्था भी प्रदेशबंध का ही कार्य है। सामान्यतः प्रदेश परिमाण का नियामक है स्थितिबंध अर्थात् जिस कर्म की उत्कृष्ट स्थिति जितनी अधिक है उसको प्रदेश समूह भी उतना ही अधिक मिलेगा पर इसमें आयुष्य और वेदनीय — ये दो कर्म अपवाद हैं।

आयुष्य कर्म का बंध जीवन में एक बार होता है। आयुष्य बंध का अधिकतम काल अन्तमुहूर्त है। अतः उस अन्तमुहूर्त को छोड़कर कर्मस्कंधों के सात ही विभाग होते हैं। जिस समय आयुष्य बंध होता है उस समय भी आठ कर्मों में आयुष्य को सबसे कम स्कंध प्राप्त होते हैं। दूसरी ओर वेदनीय कर्म इस विभाजन में सबसे अधिक भागीदार है। यद्यपि स्थिति की दृष्टि से उसका स्थान मोहनीय के बाद तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के समान है। कर्मसिद्धान्त के अनुसार यदि वेदनीय को कम पुद्गल प्राप्त हों तो सुख-दुःख आदि की स्पष्ट अनुभूति नहीं हो पाती, अतः स्थिति कम होते हुए भी प्रदेशबंध में उसे सबसे आगे रखना जरूरी है। इस प्रकार प्रदेशबंध की विभाजन-व्यवस्था का स्थूल प्रारूप यह है —

सबसे कम — आयुष्यकर्म

उससे बहुभाग अधिक — नाम व गोत्र कर्म

उससे बहुभाग अधिक — ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय

उनसे बहुभाग अधिक — मोहनीय

उससे बहुभाग — अधिक वेदनीय<sup>31</sup>

पंचसंग्रह का मन्तव्य भी कर्मग्रंथ के समान है।<sup>32</sup> गोम्मटसार के अनुसार सुख और दुःख के निमित्त से वेदनीय कर्म की निर्जरा बहुत होती है, अतः प्रदेशबंध में उसे सर्वाधिक हिस्सा मिलता है।<sup>33</sup>

प्रदेशबंध का कारण है योग। यदि विवक्षित जीव संज्ञी है, समस्त पर्याप्तियों — जीवनी शक्तियों से युक्त है तथा विवक्षित काल में कम प्रकृतियों का बंध करता है तो तीव्रयोग की अवस्था में प्रदेश-बंध सर्वाधिक होता है, जैसे दसवें गुणस्थान में। इसके विपरीत उपर्युक्त चारों में से एक भी शर्त कम हो तो प्रदेशबंध में अन्तर आ जाता है।<sup>34</sup> असंज्ञी, अपर्याप्त अथवा मन्दयोग के समय यदि आठों कर्म-प्रकृतियों का बंध हो तो मांग-पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार प्रदेशबंध बहुत कम हो पाता है।

जैनदर्शन पुरुषार्थ प्रधान है। इसमें संक्रमण के द्वारा प्रकृति के परिवर्तन तथा अपवर्तन के द्वारा रस एवं स्थिति घात करके कर्म को बदलने का सिद्धान्त मान्य है परन्तु प्रदेशबंध को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। अतः 'नामुक्तं क्षीयते क्वचित्' 'नत्थि अवेयइत्ता मोक्खो' आदि सूक्त प्रदेशबंध की अपेक्षा से अक्षरशः सत्य हैं, क्योंकि उसे भोगे बिना क्षय सम्भव नहीं। इसीलिए भगवान् ने कहा —

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर — दिसम्बर, 2002



‘जं णं पदेसकम्मं तं नियमा वेदेइ। वत्थ णं जं णं अणुभागकम्मं, तं अत्थेगइयं वेदेइ, अत्थेगइयं णो वेदेइ।<sup>१९</sup> वस्तुतः संश्लेष की दृष्टि से प्रदेश-बंध ही वास्तविक बंध है।’

संक्षेप में, यह चातुर्विध्यात्मक बंध प्रक्रिया जैन-दर्शन के वैशिष्ट्य का सूचक है। विस्तार के भय से प्रस्तुत निबंध में अनेक विषयों का उल्लेख मात्र ही हुआ है, शेष बहुत अवशेष है। फिर भी यह इतना बताने के लिए पर्याप्त है कि जैनदर्शन में कर्म न केवल चैतसिक है और न केवल पौद्गलिक। बंध एक प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया है, जिसके कारण आत्मा और पुद्गल, जो सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रतिपक्षी सत्ताएं हैं, मिलकर एक हो जाती हैं। दोनों की स्वतंत्रता और अस्मिता नष्ट होकर एक नई परिणति हो जाती है। संसारी जीव नामक तृतीय प्रजाति, जो कथंचित् मूर्त और कथंचित् अमूर्त है, का आविर्भाव होता है। कर्मबंध से लेकर कर्मफल तक की इतनी सुन्दर और स्वतः संचालित व्यवस्था है जिसमें तृतीय तत्त्व — ईश्वर की भी अपेक्षा नहीं। कर्मसिद्धांत का अध्ययन कर्ममुक्ति में योगभूत बने — यही इस प्रयास की अर्थवत्ता है।

### संदर्भसूची

- |                                       |  |
|---------------------------------------|--|
| 1. तत्त्वार्थसूत्र 8/2                | 19. कर्मग्रंथ 1/3                      |
| 2. षड्दर्शनसमुच्चय 51                 | 20. जैनसिद्धान्त दीपिका 4/9            |
| 3. सर्वार्थसिद्धि 8/2                 | 21. वही, 4/9 की वृत्ति                 |
| 4. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/4           | 22. वही, 4/10 की वृत्ति                |
| 5. भगवतीसूत्र 1/312                   | 23. कर्मग्रंथ 4/65                     |
| 6. कर्मग्रंथ 1/2                      | 24. पंचसंग्रह गा. 150                  |
| 7. जैनदर्शन : मनन और मोमांसा, पृ. 280 | 25. नन्दी, मलयगिरीया वृत्ति पत्र 77-78 |
| 8. तत्त्वार्थसूत्र 8/3                | 26. जैन सिद्धान्त दीपिका 4/10          |
| 9. कर्मग्रंथ 1, पृ. 107 (परिशिष्ट)    | 27. वही, 4/11                          |
| 10. स्वार्थसिद्धि 8/4                 | 28. कर्मग्रंथ 5/78-79                  |
| 11. तत्त्वार्थ राजवार्तिक 8/4         | 29. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. 185        |
| 12. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. 7         | 30. पंचसंग्रह 284                      |
| 13. जैनसिद्धान्त दीपिका 4/3           | 31. कर्मग्रंथ 5/78-80                  |
| 14. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. 21        | 32. पंचसंग्रह 285                      |
| 15. भगवतीसूत्र 6/3                    | 33. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. 183        |
| 16. तत्त्वार्थराजवार्तिक 8/4          | 34. कर्मग्रंथ 5/89                     |
| 17. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. 16-20     | 35. भगवतीसूत्र 1/190                   |
| 18. कर्मग्रंथ 1, पृ. 107-8 (परिशिष्ट) |  |

सम्पर्क सूत्र- जैन विश्व भारती  
लाडनू (राजस्थान)

# नाम कर्म और शरीर रचना विज्ञान

— साध्वी आरोग्यश्री

यह दृश्यमान चराचर जगत् बहुआयामी है। अनेक विचित्रताओं को अपने में समेटे हुए है। एक बार गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—भंते! विश्व में सर्वत्र तरतमता है, विभिन्नता है। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के विभिन्न व्यवहार, विभिन्न आचरण, उनकी आकृति में भिन्नता, प्रकृति में भिन्नता, शक्ति और सामर्थ्य में तरतमता दिखाई देती है। जगत् के इस वैचित्र्य को देखकर प्रश्न उठता है कि यह तरतमता क्यों? विविधता क्यों? भगवान् ने गौतम स्वामी को समझाते हुए कहा — गौतम्! संसार की विचित्रता का हेतु है कर्म।<sup>1</sup> भगवान् बुद्ध ने भी अभिधम्मकोश में लोक की विचित्रता को कर्म रूप में स्वीकार किया है — ‘कर्मजं लोक वैचित्र्यम्’।<sup>2</sup>

कर्म सिद्धान्त भारत के आस्तिक दर्शनों की आधारशिला है। कर्म की नींव पर ही आस्था व श्रद्धा का भव्य महल टिका हुआ है। अध्यात्म को कर्म सिद्धान्त के आधार पर ही व्याख्यायित किया जा सकता है।

कर्म शब्द का सामान्य अर्थ है — क्रिया प्रवृत्ति या कार्य। जैनदर्शन के अनुसार कर्म का अर्थ है —

“आवारकाः अन्तरायकारकाश्च विकारकाः।

प्रियाप्रियनिदानानि पुद्गला कर्म संज्ञिताः ॥”

जो पुद्गल आत्मा (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) को आवृत्त करते हैं, आत्म-शक्ति के विकास में विघ्न डालते हैं या नष्ट करते हैं, आत्मा को विकृत करते हैं, प्रिय और अप्रिय में निमित्त बनते हैं वे कर्म कहलाते हैं।<sup>3</sup>

आज के इस तार्किक और बौद्धिक युग में कर्म सिद्धान्त को विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में समझना बहुत जरूरी है। उसे विज्ञान की कसौटी पर कस कर प्रयोग और परीक्षण के माध्यम से सहज बुद्धिग्राह्य किया जा सकता है। अतः प्रत्येक सिद्धान्त शास्त्रसम्मत होने के साथ-साथ विज्ञानसम्मत भी होना चाहिए।

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञानावरण आदि आठ कर्म माने गये हैं १ प्रत्येक कर्म के अपने अलग-अलग कार्य हैं। उन आठ कर्मों में छद्म कर्म है — नाम कर्म। नाम कर्म को शरीर रचना का मुख्य आधार माना गया है। नाम कर्म के कारण जिस शरीर की रचना होती है उसकी तुलना हम शरीर विज्ञान के साथ कर सकते हैं। शरीर वैज्ञानिकों ने शरीर के सूक्ष्मतम अंगों को जानने का प्रयत्न किया और उसमें सफलता भी प्राप्त की। शरीर शास्त्रियों ने शरीर का तो ज्ञान प्राप्त किया और कर भी रहे हैं किंतु शरीर का ऐसा निर्माण क्यों होता है? कैसे होता है? किसके द्वारा होता है? ऐसे प्रश्नों पर वह भी चुप्पी साध लेता है। किंतु कर्म सिद्धान्त के आधार पर इन गूढ़ रहस्यों को जाना जा सकता है।

शरीर विज्ञान की खोज का उपक्रम तो मात्र 300-400 वर्षों से चल रहा है। जबकि अध्यात्म के आचार्यों ने हजारों वर्ष पूर्व ही शरीर रचना के हेतु का उल्लेख कर्म सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है कि नाम कर्म शरीर रचना का मुख्य हेतु है, क्योंकि जीव का शरीर आत्मा के अधीन नहीं है। यह आत्मा की अपनी रचना नहीं है। आत्मा चाहे जैसा शरीर का निर्माण नहीं कर सकती। शरीर का सृजन तथा शरीर से संबंधित इन्द्रियां, अंगोपांग, आकृति, संस्थान और मजबूती आदि इन सबकी रचना नाम कर्म के अधीन है। इसी प्रकार शरीर विज्ञान की दृष्टि से यदि एक शरीर-शास्त्री से पूछा जाए कि शरीर रचना का आधार तथा शारीरिक विकास की दृष्टि से व्यक्तियों में पाई जाने वाली परस्पर भिन्नता का क्या कारण है? तो उसका उत्तर होगा 'जीन'। जीव जिस प्रकार के Genes ग्रहण करता है उसी के अनुरूप व्यक्ति के शरीर की रचना होती है। जैसा Genes होगा वैसा आदमी का व्यक्तित्व बनेगा।

### नाम कर्म की परिभाषा

जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यच आदि नामों से संबोधित होता है अथवा जो जीव को विविध पर्यायों में परिणत करता है या जो जीव को गत्यादि पर्यायों का अनुभव करने के लिए उन्मुख करता है उसे नाम कर्म कहते हैं।

नाम कर्म को चित्रकार की उपमा से उपमित किया गया है। जिस प्रकार चित्रकार विविध वर्णों से अनेक प्रकार के सुन्दर-असुन्दर चित्र बनाता है उसी प्रकार नाम कर्म में स्थित चौरासी लाख प्रकार के जीवयोनिगत जीवों के विविध चित्र-विचित्र शरीर और उनसे संबद्ध अंगोपांग आदि की रचना करता है और उसी के अनुसार हाथ, पैर, जीभ, कान, नाक आदि का निर्माण होता है १

### नाम कर्म और ग्रंथि तंत्र

कर्मवाद की यह प्रकृति रही है कि हमारे साथ जितने भी कर्मों का संबंध होता है उनमें विरोधी युगलों का भी समावेश होता है। जैसे शुभ नाम कर्म है तो अशुभ नाम कर्म भी होगा। सभी व्यक्तियों में ये दो विरोधी प्रकृतियां पाई जाती हैं। फिर भी दो विरोधी प्रकृतियां

एक साथ उदय में नहीं आ सकती। जैसे यदि सुस्वर नाम कर्म का उदय है तो उस समय दुःस्वर नाम कर्म का उदय नहीं हो सकता है। यदि अनादेय नाम कर्म का उदय है तो व्यक्ति का वचन युक्तिपूर्ण तथा सुन्दर होते हुए भी वह मनोज्ञ नहीं होगा, क्योंकि उस समय आदेय नाम कर्म का उदय नहीं है।

शरीर विज्ञान की दृष्टि से शरीर संरचना में सहायक जीव भी एक युगल के रूप में साथ-साथ कार्य करते हैं तब शरीर का विकास होता है। जो जीव अपने-अपने अनुरूप गुण पैदा करता है उसे प्रभावी जीन कहते हैं और जो जीव कुछ नहीं करता उसे अप्रभावी जीव कहते हैं।

ग्रंथि तंत्र के अनुसार शरीर में स्थित अनेक प्रकार की ग्रंथियां विभिन्न रसायन पैदा करती हैं जिन्हें हार्मोन्स कहते हैं। ये हार्मोन्स शारीरिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। जिन ग्रंथियों का स्राव न तो सीधा किसी अंग में गिरता है और न ही उनमें से किसी प्रकार की नलिकाएं निकलती हैं, उन ग्रंथियों का स्राव सीधा रक्त में प्रवाहित होता है। ऐसी ग्रंथियों को अन्तःस्रावी ग्रंथितंत्र कहते हैं। इन ग्रंथियों से निकलने वाले स्रावों का विभिन्न अंगों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है।<sup>6</sup>

कुछ व्यक्ति बहुत अधिक शक्तिशाली, बलवान और सुगठित शरीर वाले होते हैं। उनके शरीर की अस्थियां आदि बहुत ही सुदृढ़ और मजबूत होती हैं। प्रश्न उभरता है कि इन सबका कारण क्या है?

संहनन नाम कर्म के उदय से शरीर में अनेक प्रकार की हड्डियों का निर्माण होता है। इनमें कुछ टेढ़ी-मेढ़ी, कुछ एक दूसरे से जुड़ी हुई कई प्रकार की होती हैं।

शरीर विज्ञान के अनुसार मानव शरीर में भी अलग-अलग प्रकार की अस्थियों का निर्माण होता है। जैसे— लम्बी अस्थियां, क्रमहीन, चपटी, छोटी तथा स्नायुजात। पेटाथाइराइड ग्रंथि शरीर के संतुलन को बनाए रखती है। इस ग्रंथि के अभाव में खून में कैल्शियम कम होने लगता है जो कि हड्डियों को मजबूत बनाए रखता है। इसके हार्मोन्स की अधिकता होने पर ब्लड तथा कैल्शियम की कमी होने पर हड्डियां कमजोर होती जाती हैं। इससे व्यक्ति का शरीर शिथिल पड़ जाता है तथा भद्दा दिखाई देने लगता है।

हड्डियों से तो हमारे शरीर का मात्र ढांचा तैयार होता है। जब तक मांसपेशीय संरचना सुव्यवस्थित नहीं होती तब तक शरीर सुडौल और सुगठित नहीं लगता। मांसपेशीय संरचना को स्वस्थ तथा शक्तिशाली बनाने में एड्रिनल ग्रंथि योगभूत बनती है। इस ग्रंथि से होने वाले स्राव एड्रिनेलिन कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त परानुकम्पी नाड़ी संस्थान भी शरीर में शक्ति का संचय करता है तथा शरीर के विभिन्न भागों को पुष्ट बनाता है। इस प्रकार शरीर को आकार देने वाली अस्थि संरचना की तुलना हम संहनन नाम कर्म के साथ कर सकते हैं।<sup>7</sup>

प्रायः देखा जाता है कि एक ही गर्भ से उत्पन्न संतान एक गोरी होती है तो दूसरी काली। कुछ जाति विशेष के लोग गोरे होते हैं तो कुछ जाति विशेष के लोग काले और यह

क्रम कई पीढ़ियों तक चलता रहता है। जलवायु या स्थान परिवर्तन के पश्चात् भी उनके रंग में बदलाव नहीं आता। एक दृष्टि से देखा जाए तो यह शाश्वत नियम क्यों? त्वचा के वर्ण निर्धारण में वर्ण नामकर्म के उदय से व्यक्ति के शरीर का रंग गोरा या काला होता है।

शरीर विज्ञान की दृष्टि से त्वचा का चौथा स्तर है — प्रारोही स्तर (The Stratum Germinativum)। प्रारोही स्तर में विद्यमान वर्णक कोशिकाओं (Pigment Cell) के कारण हमारी त्वचा का रंग गोरा या काला होता है। ये कोशिकाएं शरीर में जितनी कम होती हैं त्वचा का रंग उतना ही साफ होता है तथा ये कोशिकाएं जितनी अधिक होती हैं त्वचा का रंग उतना ही काला होता है। कुछ जाति विशेष में ये कोशिकाएं अधिक पाई जाती हैं। जैसे — अफ्रिकन, निग्रो, हब्शी आदि लोगों में। परिणामस्वरूप वहां के व्यक्ति काले होते हैं। अमेरिका जैसे ठंडे देश के लोग गोरे होते हैं, क्योंकि उनमें इन कोशिकाओं की मात्रा कम होती है। शरीर में सफेद दाग या धब्बे भी इन्हीं के कारण होते हैं। इस प्रकार वर्ण नामकर्म की तुलना त्वचा के प्रारोही स्तर की वर्णक कोशिकाओं के साथ की जा सकती है।

हमारे शरीर की त्वचा में स्निग्धता और रूक्षता के दोनों गुण विद्यमान रहते हैं। किंतु कुछ व्यक्तियों की त्वचा अत्यधिक तैलीय व स्निग्धता से युक्त होती है तो कुछ व्यक्तियों की त्वचा सूखी व रूक्ष दिखाई पड़ती है। हमारी त्वचा में पाई जाने वाली त्वगसीय ग्रंथि इसमें मुख्य निमित्त बनती है। इस ग्रंथि में कोलेस्ट्रॉल, ओर्गेस्ट्रॉल तथा वसीय अम्ल आदि तत्त्व रहते हैं जिसके कारण त्वचा सदैव चिकनी और मुलायम बनी रहती है। जब इस ग्रंथि में इन तत्त्वों की कमी हो जाती है तो त्वचा रूक्ष और सूखी हो जाती है। विशेष रूप से सर्दियों के दौरान इस ग्रंथि में इन तत्त्वों की कमी हो जाती है। फलतः त्वचा फट जाती है और खुरदरी भी हो जाती है।

त्वगसीय ग्रंथि के इन तत्त्वों की तुलना स्पर्श नामकर्म के साथ की जा सकती है। इसके उदय से प्राणी का शरीर स्निग्ध, रूक्ष आदि स्पर्श युक्त होता है। यद्यपि प्रत्येक प्राणी के शरीर में शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु, कर्कश — ये आठ स्पर्श होते हैं किंतु जिस प्राणी में जिस प्रकार के वर्ण, गंध आदि का विशेष उदय होता है उस समय उस प्राणी में उसी प्रकार त्वचा की स्निग्धता और रूक्षता की तुलना स्पर्श नामकर्म के साथ की जा सकती है।<sup>१</sup>

प्रत्येक प्राणी के अंग और उपांग अलग-अलग होते हैं। उन सबका शरीर में एक व्यवस्थित स्थान और क्रम है। एक गाय के कान का स्थान और एक मनुष्य के कान का स्थान भिन्न है, किंतु मानव शरीर में वह प्रायः उसी स्थान में समान रूप में होता है। भिन्न-भिन्न जातियों के प्राणियों में इन अंग-उपांगों का स्थान निर्धारण कौन करता है? शरीर विज्ञान के पास इसका समाधान है गुणसूत्रों में पाये जाने वाले भिन्न-भिन्न आदेश एवं D.N.A. और R.N.A. नामक रसायन। कर्म शास्त्रीय दृष्टि से अंगोपांग नाम कर्म को इसका संवादी तत्त्व कहा जा सकता है। विशेष बात यह है कि विज्ञान की पहुंच केवल मानव और पशु-पक्षियों तक ही है, जबकि अंगोपांग नामकर्म का क्षेत्र बहुत विशाल है।

व्यक्ति के शरीर की लम्बाई-मोटाई व्यक्तित्व का आकर्षक या अनाकर्षक होना यह सब शरीर-विज्ञान के अनुसार विविध ग्रंथियों-विशेष रूप से थायराइड ग्रंथि के स्रावों पर निर्भर करता है। इस ग्रंथि से थायरोक्सिन आदि हार्मोन्स निकलते हैं जिसके कारण व्यक्ति के शरीर में उपर्युक्त परिवर्तन एवं विकास के घटक तत्त्व निर्मित होते हैं। यह सब भी बाह्य व्यक्तित्व से संबद्ध है। फलतः शरीर नामकर्म ही इनके लिए उत्तरदायी है। जब शुभ नाम कर्म का उदय होता है तो व्यक्ति का व्यक्तित्व आकर्षक होता है।

प्रश्न उठता है कि मानव जाति में लिंग का निर्धारण किस आधार पर होता है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक शरीर की कोशिका में 46 क्रोमोजोम पाये जाते हैं। गर्भाधारण के समय मानवीय प्राणी माता के अण्डाणु (Ovum) से 23 गुणसूत्र तथा पिता के शुक्राणु से 23 गुणसूत्र प्राप्त करता है। पुरुष में पाये जाने वाले क्रोमोजोम को 'Y' क्रोमोजोम कहते हैं और नारी में पाये जाने वाले को 'X' क्रोमोजोम कहते हैं। इन X तथा Y क्रोमोजोम को लिंग क्रोमोजोम कहते हैं। इनके संयोग से लिंग का निर्माण होता है। इस निर्माण के पश्चात् स्त्री में स्त्रीत्व और पुरुष में पुरुषत्व विकास के लिए गोनाड्स ग्रंथि मानी जाती है।

कर्म शास्त्र की भाषा में इन सबके लिए उत्तरदायी है वेद। आज शरीर विज्ञान ने इतना विकास किया कि लिंग परिवर्तन के द्वारा एक लड़के को लड़की के रूप में और एक लड़की को लड़के के रूप में रूपान्तरित किया जा सकता है। यह सब ग्रंथियों के स्रावों पर ही निर्भर करता है।

कुछ व्यक्तियों के शरीर का विकास असामान्य होता है अर्थात् किसी के ऊपर का भाग सुन्दर तो किसी के नीचे का भाग। किसी के पैर अत्यधिक पतले होते हैं तो किसी का पेट बहुत बड़ा हो जाता है। कुछ व्यक्तियों के शरीर के अनुपात में हाथ-पैर अधिक मोटे हो जाते हैं, सिर बड़ा हो जाता है। यह सारी असामान्यता किस आधार पर घटित होती है? कर्मशास्त्र के अनुसार यह सब शुभ-अशुभ नाम कर्म के उदय से होता है। जिसके शुभ नाम कर्म का उदय होता है, उसके शारीरिक अवयव सुन्दर होते हैं। जिसके अशुभ नाम कर्म का उदय होता है उसके शारीरिक अंग-उपांग सुन्दर नहीं होते हैं।

शरीर विज्ञान की दृष्टि से थायराइड ग्रंथि के असंतुलित स्राव से ये सारी क्रियाएं घटित होने लगती हैं। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार संहनन अर्थात् आकृति रचना के मुख्यतः 6 प्रकार हो सकते हैं— 1. वज्रऋषभनाराच, 2. ऋषभनाराच, 3. नाराच, 4. अर्धनाराच, 5. कीलिका, 6. सेवार्त।

1. **वज्रऋषभनाराच**—कुछ व्यक्तियों की अस्थि संरचना इस प्रकार से होती है कि उसमें कई अस्थियों को भेद कर उसके आर-पार एक बोल्ट कसा हुआ होता है। इसे वज्रऋषभनाराच कहते हैं। यह अत्यधिक शक्तिशाली और मजबूत अस्थि संरचना होती है।

2. **ऋषभनाराच**—इस अस्थि संरचना में दो परस्पर गुंथी हुई अस्थियों के ऊपर एक और तीसरी अस्थि लिपटी हुई रहती है। उसे ऋषभनाराच कहते हैं।

3. **नाराच**—कुछ व्यक्तियों की हड्डियां दोनों ओर से आपस में जुड़ी हुई होती हैं। ऐसी अस्थि संरचना को नाराच कहते हैं।

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर—दिसम्बर, 2002  67

4. **अर्धनाराच** — इसमें हड्डियों के किनारे एक ओर से गुंथे हुए होते हैं। इसे अर्धनाराच अस्थि संरचना कहते हैं।

5. **कीलिका** — कुछ व्यक्तियों की हड्डियां परस्पर एक-दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं। ऐसी अस्थि संरचना को कीलिका कहते हैं।

6. **सेवार्त** — कुछ शरीर में अस्थियां जुड़ी हुई नहीं होती, केवल आमने-सामने होती हैं। इसे सेवार्त कहते हैं। इस प्रकार हमारे शरीर में साधना और स्वास्थ्य दोनों दृष्टि से इन छः प्रकार के संहनन का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अस्थि संरचना के संबंध में इस प्रकार का विवेचन जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है।

वर्तमान में भी हम देखते हैं कि अस्थि संरचना की दृष्टि से व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। कुछ मनुष्यों की क्षमता इतनी कम होती है कि सामान्य-सी चोट से हड्डी क्रेक हो जाती है जबकि कुछ व्यक्तियों के भयंकर दुर्घटनाग्रस्त होने पर भी बाल बांका तक नहीं होता। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसके क्या-क्या कारण हो सकते हैं? यह तुलनात्मक अध्ययन का विषय है।

कर्मवाद के अन्तर्गत शरीर संरचना की दृष्टि से नाम कर्म इतना शक्तिशाली है कि कोई जीव उसकी रचना का प्रतिवाद नहीं कर सकता। उसके निर्माण के अधीन परतंत्र होकर उसे शरीर रूपी कारागार में रहना पड़ता है। अतः जीवों के शरीर और उससे संबद्ध सारी रचना नामकर्म के अधीन है। कोई भी जीव इस विषय में स्वतंत्र नहीं है।<sup>10</sup>

संक्षिप्त रूप से नामकर्म और शरीर-रचना-विज्ञान की तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मवाद कई सन्दर्भों में विज्ञान के लिए मार्गदर्शक बन सकता है। ऐसे कई बिन्दु हो सकते हैं जो आने वाले दशकों अथवा शताब्दियों में वैज्ञानिकों के लिए हाइपोथिसिस के विषय बन सकते हैं। सीमा सापेक्ष होने के कारण यह विषय का प्रारम्भ मात्र है, पूर्णता नहीं।

## संदर्भसूची —

1. गाथा-16/1-2
2. अभिधम्मकोश-4/1
3. कर्म बंधन और मुक्ति की प्रक्रिया — चन्दनराज मेहता, पृ. 82
4. पणवन्ना-23/1
5. गो. कर्मकांड, कर्मग्रंथि प्रथमभाग — पंडित सुखलाल
6. कर्म बंधन और मुक्ति की प्रक्रिया
7. मनोविज्ञान के सिद्धांत एवं सम्प्रदाय — डॉ. आर.के. ओझा, पृ. 368
8. शरीर क्रिया विज्ञान — कांति पाण्डेय, प्रमिला वर्मा, पृ. 484
9. जैन तत्त्व विद्या — आचार्यश्री तुलसी, पृ. 94-95
10. कर्म विज्ञान

सम्पर्क सूत्र- जैन विश्व भारती  
लाडनूँ (राजस्थान)

# प्राकृत ग्रंथों में कर्मसिद्धान्त का विश्लेषण

— डॉ. रमेशचन्द्र जैन

भारतीय दर्शन की प्रमुख शाखाओं— वैदिक, बौद्ध और जैन परम्परा में कर्मवाद पर विचार किया गया है किंतु जैन परम्परा में कर्मसिद्धान्त का जैसा सूक्ष्म एवं विशद विवेचन उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। कर्मसिद्धान्त का विश्लेषण करने हेतु जैन आचार्यों ने अनेक स्वतंत्र ग्रंथ लिखे। द्वादशांगश्रुत के बारहवें अंग के जो पांच भेद बतलाए गए हैं, उनमें से चौथे भेद पूर्वगत के चौदह भेदों में से, दूसरे अग्रायणीय पूर्व की 14 वस्तुओं में से, पांचवीं चयनलब्धि के 20 प्राभृतों में से, चौथे कर्म प्रकृति प्राभृत के 24 अनुयोगद्वारों में से भिन्न-भिन्न अनुयोगद्वार एवं उनके अवान्तर अधिकारों से षट्खण्डागम के विभिन्न अंगों की उत्पत्ति हुई। पांचवें ज्ञान प्रवाद पूर्व की दसवीं वस्तु के तीसरे पेज्जदोसपाहुड़ से कषायपाहुड़ की उत्पत्ति हुई। गुणधरावार्यकृत कषायपाहुड़ की रचना षट्खण्डागम से पूर्व हुई। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार कर्मप्रकृति, शतक, पंचसंग्रह और सप्ततिका— ये चार ग्रंथ पूर्वाद्धृत कर्मशास्त्र के अन्तर्गत हैं। प्राकरणिक कर्मशास्त्र (विक्रम की आठवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती तक निर्मित) में कर्मशास्त्र सम्बन्धी अनेक ग्रंथ समाविष्ट हैं। इनका आधार पूर्वाद्धृत कर्मसाहित्य है। पूर्वाद्धृत एवं प्राकरणिक कर्मशास्त्रों की रचना प्रायः प्राकृत में हुई। अधिकतर संस्कृत में कर्मशास्त्र पर टीका-टिप्पणियां ही लिखी गईं।

गुणधर ग्रथित जिस पेज्जदोसपाहुड़ में सोलह हजार मध्यम पद थे अर्थात् जिनके अक्षरों का परिमाण दो कोड़ाकोड़ी, इकसठ लाख, सत्तावन हजार, दो सौ बानवे करोड़, बासठ लाख, आठ हजार था, इतने महान् विस्तृत ग्रंथ का सार 233 गाथाओं में आचार्य गुणधर (विक्रम की दूसरी शती का पूर्वाद्धृत) ने कषायपाहुड़ में निबद्ध किया। कषायपाहुड़ पन्द्रह अधिकारों में बंटा हुआ है— 1. पेज्जदोषविभक्ति, 2. स्थितिविभक्ति, 3. अनुभागविभक्ति, 4. प्रदेशविभक्ति ज्ञीणाज्ञीणस्थित्यन्तिक,



5. बन्धक, 6. वेदक, 7. उपयोग, 8. चतुःस्थान, 9. व्यंजन, 10. दर्शनमोहोपशमना  
11. दर्शनमोहक्षपणा, 12. संयमासंयमलब्धि, 13. संयमलब्धि, 14. चारित्रमोहोपशमना,  
15. चारित्रमोहक्षपणा।

233 गाथाओं द्वारा सूचित अर्थ की सूचना यतिवृषभ ने 6000 श्लोक प्रमाण चूर्णि सूत्रों द्वारा दी और उनका व्याख्यान उच्चारणाचार्य ने 12000 श्लोक प्रमाण उच्चारवृत्ति के द्वारा किया। उसका आश्रय लेकर 60,000 श्लोक प्रमाण जयध्वला टीका रची गई।

आचार्य धरसेन (वीर वि.सं. 614-683 के मध्य) के शिष्य पुष्पदन्त आचार्य ने सत्प्ररूपणा सूत्रों की रचना की। भूतबलि नामक आचार्य ने द्रव्यप्रमाणानुगम आदि लेकर आगे के ग्रंथ की रचना की। इस प्रकार षट्खण्डागम की रचना हुई। षट्खण्डागम के 6 खण्ड इस प्रकार हैं — 1. जीवस्थान, 2. क्षुद्रकबन्ध, 3. बन्धस्वामित्वविचय, 4. वेदना, 5. वर्गणा और 6. महाबन्ध।

जीवस्थान के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वार तथा नौ चूलिकाएँ हैं। आठ अनुयोगद्वार इनसे सम्बंधित हैं — 1. सत्, 2. संख्या (द्रव्यप्रमाण), 3. क्षेत्र, 4. स्पर्शन, 5. काल, 6. अन्तर, 7. भाव, 8. अल्पबहुत्व। नौ चूलिकाएँ ये हैं — 1. प्रकृति समुत्कीर्तन, 2. स्थान समुत्कीर्तन, 3-5. प्रथम, द्वितीय, तृतीय महादण्डक, 6. उत्कृष्ट स्थिति, 7. जघन्यस्थिति, 8. सम्यक्त्वोत्पत्ति, 9. गति-आगति।

क्षुद्रकबन्ध के 11 अधिकार हैं — 1. स्वामित्व, 2. काल, 3. अन्तर, 4. भंगविचय, 5. द्रव्यप्रमाणानुगम, 6. क्षेत्रानुगम, 7. स्पर्शानुगम, 8. नाना जीवकाल, 9. नाना जीव अन्तर, 10. भागाभागानुगम, 11. अल्पबहुत्वानुगम।

बंधस्वामित्वविचय में निम्न विषय हैं — कर्मप्रकृतियों का जीवों के साथ बंध, कर्मप्रकृतियों की गुणस्थानों में व्युच्छिति, स्वोदय बन्धरूप प्रकृतियाँ, परोदयबन्धरूप प्रकृतियाँ।

वेदना खण्ड में कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वार हैं। कृति सात प्रकार की है — 1. नामकृति, 2. स्थापनाकृति, 3. द्रव्यकृति, 4. गणनाकृति, 5. ग्रंथकृति, 6. करणकृति, 7. भावकृति।

वेदना के 16 अधिकार हैं —

1. निक्षेप, 2. नय, 3. नाम, 4. द्रव्य, 5. क्षेत्र, 6. काल, 7. भाव, 8. प्रत्यय, 9. स्वामित्व, 10. वेदना, 11. गति, 12. अनन्तर, 13. सन्निकर्ष, 14. परिमाण, 15. भागाभागानुगम, 16. अल्पबहुत्व।

वर्गणाखण्ड का मुख्य अधिकार बन्ध स्थानीय है जिसमें वर्गणाओं का वर्णन है। इसमें स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्ध अधिकार भी अन्तर्भूत हैं।

महाबंध में प्रकृत्यादि चार प्रकार के बंधों का विस्तृत वर्णन है। षट्खण्डागम पर आचार्य कुन्दकुन्द, शामकुण्ड, तुम्बलूर, समन्तभद्र, वप्पदेव, वीरसेन आदि अनेक आचार्यों ने

टीकाएं लिखीं। वीरसेन स्वामी ने सम्पूर्ण धवला लिखी तथा जयधवला (समादित ई. सन् 837) का पूर्व भाग रचा। धवला 72,000 श्लोक प्रमाण है। यह मणिप्रवालन्याय से प्राकृत-संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में लिखी गई है। आचार्य वीरसेन जयधवला टीका अधूरी ही लिख पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया। उस टीका की पूर्ति उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेन ने की।

आचार्य शिवधर्म के कम्मपयडी और सतक दो ग्रंथ उपलब्ध हैं। इन दोनों ही ग्रंथों का उद्गमस्थान महाकम्मपयडि पाहुड़ है। इससे वे द्वितीय पूर्व के एकदेश ज्ञाता सिद्ध होते हैं। शिवशर्मसूरि का समय वि.सं. 500 के लगभग अनुमान किया जाता है।

सित्तरी अथवा सप्ततिका नामक एक कर्मविषयक ग्रंथ श्वेताम्बर परम्परा में बहुमान्य है। इसके अतिरिक्त कर्मस्तव, पंचसंग्रह, षडशीति, बंधस्वामित्ववृत्ति, गोम्मटसार, सार्द्धशतक, लब्धिसार, कर्मग्रंथ, मनःस्थितरीकरण प्रकरण तथा संक्रमकरण आदि अनेक ग्रंथ कर्मसिद्धान्त के विषय में लिखे गए।<sup>१</sup>

दिगम्बर परम्परा में आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा लिखित गोम्मटसार (रचनाकाल वि.सं. 1040) विशेष लोकप्रिय है। आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है —

जह चक्रेण य चक्की छक्खण्डं साहियं अविग्घेण।

तह मइचक्रेण मया छक्खण्डं साहियं सम्मं ॥

जिस तरह चक्रवर्ती अपने चक्ररत्न से भरतवर्ष के छः खण्डों को बिना किसी विघ्न-बाधा के साधता है या अपने अधीन करता है, उसी तरह मैंने (नेमिचन्द्र ने) अपने बुद्धि रूपी चक्र से षट्खण्डों को (षट्खण्डागम सिद्धान्त को) सम्यक् रीति से साधा है।

गोम्मटसार के दो भाग हैं — पहले भाग का नाम जीवकाण्ड है और दूसरे भाग का नाम कर्मकाण्ड है। जीवकाण्ड में जीव का कथन 20 प्ररूपणाओं द्वारा किया गया है — गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, 14 मार्गणाएं और उपयोग। जीवकाण्ड में 734 गाथाएं हैं। कर्मकाण्ड की गाथा संख्या 972 है। उसमें नौ अधिकार हैं —

1. प्रकृति समुत्कीर्तन,
2. बन्धोदयसत्त्व,
3. सत्त्वस्थानभंग,
4. त्रिचूलिका,
5. स्थानसमुत्कीर्तन,
6. प्रत्यय,
7. भावचूलिका,
8. त्रिकरणचूलिका और
9. कर्मस्थितिरचना।

ज्ञात समस्त कर्म साहित्य का ग्रंथमान लगभग सात लाख श्लोक है। इसमें वे केवल दिगम्बरीय कर्म साहित्य का ग्रंथमान लगभग 5 लाख श्लोक है। महाकर्म प्रकृतिप्राभृत और कषायप्राभृत जो कि दिगम्बर परम्परा के आगम ग्रंथ हैं और जिनसे सम्बंधित टीकाएं भी आगामिक साहित्य के अन्तर्गत ही गिनी जाती हैं, दिगम्बरीय साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है।<sup>२</sup>

**कर्म का तात्पर्य** — कर्म सिद्धान्त केवल भारतीय दर्शन की ही आधारशिला नहीं है, अपितु इस देश के मनुष्यों की समस्त सामाजिक क्रियाओं का यह निर्देशक है। कर्म शब्द

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर — दिसम्बर, 2002  71

संस्कृत की कृ धातु से निकला है, जिसका अर्थ करना है। प्रत्येक क्रिया हमारे ऊपर कुछ-न-कुछ संस्कार छोड़ जाती है, इनके संस्कारों से बचा नहीं जा सकता। प्रायः यह समझा जाता है कि जैसा हम बोते हैं, वैसा काटते हैं। यदि हम अच्छे कार्य करते हैं तो हम सुखी रहते हैं और यदि हम बुरे कार्य करते हैं तो दुःखी रहते हैं। दूसरे शब्दों में सुख पुण्य का फल है और दुःख पाप का फल है। केवल क्रियाएं ही नहीं, अपितु विचार और अनुभूतियां भी अपना फल देती हैं।

जैनदर्शन की यह विशेषता है कि जहां वह भले-बुरे कार्यों के प्रेरक विचारों से आत्मा में संस्कार मानता है, वहां उस संस्कार के साथ एक विशेष जाति के सूक्ष्म पुद्गलों का आत्मा से सम्बन्ध होना भी मानता है। परमात्म प्रकाश में कहा है—

**विसय कसायहि रंगियहं, जे अणुया लगंगति ।  
जीव पएसहि मोहियहं ते जिण कम्म भवंति ॥62**

“विषय तथा कषायों के कारण आकर्षित होकर जो पुद्गल के परमाणु जीव के प्रदेशों में लगकर उसे मोहयुक्त करते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।” पुद्गल द्रव्य की तेईस प्रकार की वर्गणाओं में कर्मण वर्गणा कर्म रूप होती हैं तथा आहार, तैजस, भाषा और मनोवर्गणा नोकर्मरूपता को प्राप्त होती हैं। शेष अष्टादश प्रकार का पुद्गल कर्म नोकर्मरूपता को प्राप्त नहीं होता है। उसका आत्मा के साथ सम्बन्ध होने के लिए यह आवश्यक है कि उपर्युक्त पंच प्रकार की वर्गणाओं के रूप में परिणत हो।

लोक सर्वतः विविध प्रकार के अनन्तानन्त सूक्ष्म तथा बादर पुद्गलकायों द्वारा अवगाहित होकर गाढ़ हुआ है। आत्मा (मोह, राग, द्वेष रूप) अपने भाव को करता है, तब वहां रहने वाले पुद्गल अपने भावों से जीव में अन्योन्य अवगाह रूप से प्रविष्ट हुए कर्मभाव को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार पुद्गल द्रव्यों की अनेक प्रकार की स्कन्ध रचना पर से किए गए बिना होती दिखाई देती है, उसी प्रकार कर्मों की बहुप्रकारता पर से अकृत जानना चाहिए। जीव और पुद्गलकाय अन्योन्य अवगाह के ग्रहण द्वारा परस्पर बद्ध है। काल से पृथक् होने पर सुख-दुःख देते और भोगते हैं। इसलिए जीव के भाव से संयुक्त कर्म कर्ता है, चेतक भाव के कारण कर्मफल का भोक्ता तो जीव मात्र है। इस प्रकार अपने कर्मों से कर्ता, भोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित बर्तता हुआ सांत अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

**कर्म से संसार चक्र**—पुद्गल जब आत्मा के साथ बंध जाते हैं, तब वे तत्काल या कालान्तर में सुख या दुःख रूप फल देते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में कहा है—

जो खलु संसारत्थो जीवो ततो दु होदि परिणामो ।  
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥  
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदिद्याणि जायंते ॥  
तेहिं दु विसग्गहण ततो रागो व दोसो वा ॥

जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्रवालमि ।

इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिधिणो सणिधणो वा ॥

जो वास्तव में संसारस्थित जीव है, उससे परिणाम होता है, परिणाम से कर्म और कर्म से गतियों में गमन होता है। गति प्राप्ति से देह होती है, देह से इन्द्रियां होती हैं और इन्द्रियों से विषयग्रहण और विषयग्रहण से राग अथवा द्वेष होता है। ऐसे भाव संसारचक्र में जीव को अनादि अनन्त अथवा अनादि सांत होते हैं।

कर्म मूर्त हैं, क्योंकि कर्म का फल जो विषय है, वे नियम से मूर्त स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा जीव द्वारा सुख रूप से अथवा दुःख रूप से भोगे जाते हैं, इसलिए कर्म मूर्त हैं।<sup>९</sup>

**आत्मा के कर्मों के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के प्रति अनेकान्त** — समयसार में कहा है कि ज्ञानी जीव अनेक प्रकार पुद्गल द्रव्य के पर्याय रूप कर्मों को जानता हुआ भी तन्मयता के साथ पर द्रव्य की पर्यायों में उन स्वरूप न तो परिणयमता है और न ग्रहण ही करता है और न उन रूप उत्पन्न ही होता है।<sup>९</sup> पुद्गल द्रव्य भी पर द्रव्य की पर्याय रूप में न तो परिणमन ही करता है और न कभी उसको ग्रहण ही करता है और न उस रूप में कभी उत्पन्न ही होता है, किंतु अपने आपके परिणामों से ही परिणमन करता है।<sup>१०</sup> यद्यपि जीव के राग-द्वेष परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है, वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है, तथापि जीव कर्म के गुण रूपादि को स्वीकार नहीं करता, उसी भांति कर्म भी जीव के चेतनादि गुणों को स्वीकार नहीं करता, किंतु केवल मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से विकार-परिणमन होता है। इस कारण से वास्तव में आत्मा अपने भावों से ही अपने भावों का कर्ता होता है किंतु पुद्गल कर्मों द्वारा किए गए सर्वभावों का कर्ता नहीं है।<sup>११</sup> निश्चय नय की अपेक्षा आत्मा अपने आपका ही कर्ता है और अपने आपका ही भोक्ता है। व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों का कर्ता है और उन्हीं अनेक प्रकार के कर्मों का भोक्ता भी है।<sup>१२</sup>

**कर्मवर्गणाओं का समूह कैसे आता है?**

जीव के जो अतत्त्व रूप श्रद्धान होता है, वह मिथ्यात्व का उदय है। उनके (जीवों के) जो त्यागभाव का अभाव है, वह असंयम का उदय है। इसी प्रकार जो स्वरूप का अन्यथा जानता है, वह अज्ञान का उदय है तथा जो जीवों के उपयोग का मैलापन है, वह कषाय का उदय है और जो जीवों के शुभाशुभ रूप मन, वचन, काय की उत्साहात्मक चेष्टाविशेष होती है, वह योग का उदय है। इन पांचों में से किसी के भी होने पर जो कर्मवर्गणाओं का समूह आता है, वह ज्ञानावरणादि के रूप में आठ प्रकार का होकर अवश्य ही जीव के साथ सम्बद्ध होता है, उस समय उन मिथ्यात्वादि भावों का यह जीव कारण होता है।<sup>१३</sup>

जीव के जो रागादि विकारभाव होते हैं, वे यदि वास्तव में कर्म के भी होते हैं तो जीव और कर्म ये दोनों ही रागादिमान् होने चाहिए, किंतु ऐसा होता नहीं। यदि अकेले जीव के ही रागादि परिणाम मान लिए जायें तो कर्मोदय के बिना भी हो जाने चाहिए।<sup>१४</sup> इसी प्रकार यदि

जीव सहित पुद्गल द्रव्य का परिणामन कर्मरूप हो तो पुद्गल और जीव— ये दोनों ही कर्मरूप में एकपने को प्राप्त हो जाना चाहिए और यदि अकेले पुद्गल द्रव्य का ही परिणाम कर्मरूप में हो तो जीव के रागादि भावों के बिना ही हो जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता है।<sup>15</sup> कर्म जीव से सम्बद्ध है, आत्मप्रदेशों में मिले हुए हैं, यह व्यवहारनय का पक्ष है और कर्म जीव में अबद्धस्पृष्ट है अर्थात् बंधे हुए नहीं हैं, ऐसा शुद्धनय का कथन है। जीव कर्म से बद्ध है, जीव कर्म से अबद्ध है, ये सब नयपक्ष हैं, किंतु समयसार रूप आत्मा इन पक्षों से दूरवर्ती है।<sup>16</sup>

**शुभ और अशुभ कर्म**— अशुभ कर्म तो पापरूप है, बुरा है और शुभकर्म पुण्यरूप है, अच्छा है, ऐसा सर्वसाधारण कहते हैं, परन्तु परमार्थ दृष्टि से देखें तो जो कर्म इस जीव को रागात्मक शरीर रूप संसार में ही बनाए रखता है, वह कर्म अच्छा कैसे हो सकता है? जैसे बेड़ी सोने की बनी हो, चाहे लोहे की बनी हुई हो, दोनों ही तरह की बेड़ियां पुरुष को साधारण रूप से जकड़ कर रखती हैं। इसी प्रकार चाहे शुभ कर्म हो या अशुभ कर्म हो, वह साधारण रूप से जीव को संसार में रखता है।<sup>16 (अ)</sup>

**ज्ञानी अभोक्ता है**— ज्ञानी जीव सब ही द्रव्यों के प्रति होने वाले राग को छोड़ देता है, अतः वह ज्ञानावरणादि कर्मसहित होकर भी नवीन कर्म रज से लिस नहीं होता, जैसे कि कीचड़ में पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता है, किंतु अज्ञानी जीव सभी द्रव्यों में राग रखता है, इसलिए कर्मों के फंदे में फंसकर नित्य नए कर्मबंध किया करता है, जैसे कि लोहा कीचड़ में पड़ने पर जंग खा जाया करता है।<sup>17</sup> ज्ञानी जीव निर्वेद समापन्न अर्थात् वैराग्य सहित होता है, इसलिए वह मीठा या कडुवा आदि अनेक प्रकार वाले कर्मफल को जानता है, फिर भी वह उसका भोक्ता नहीं होता है।<sup>18</sup> ज्ञानी अनेक प्रकार के कर्मों को न तो करता ही है और न भोगता ही है, परन्तु कर्म के बंध को तथा कर्मफल पुण्य और पाप को जानता भी है। जैसे चक्षु देखने योग्य पदार्थ को देखता ही है, उसका कर्ता तथा भोक्ता नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानी भी बंध, मोक्ष, कर्मोदय के उदय तथा कर्मों की निर्जरा को जानता ही है। कर्ता भोक्ता नहीं होता है।<sup>19</sup>

**अमूर्त्त आत्मा के बंध का कारण:—**

**प्रश्न**— रूपादि गुणयुक्त होने से मूर्तिमान पुद्गल का अन्य पुद्गल के साथ बंध होना उपयुक्त है, किंतु आत्मा तो रूपादिगुण रहित है। वह किस प्रकार पौद्गलिक कर्मों का बंध करता है?<sup>20</sup>

**उत्तर**— आत्मा स्वयं रूप, रस, गंध तथा वर्णरहित है, फिर भी वह रूप, रस आदि युक्त द्रव्य तथा गुणों को देखता है तथा जानता है। इसी प्रकार रूपादिरहित आत्मा रूपी कर्मपुद्गलों से बंध को प्राप्त होता है।<sup>21</sup>

**द्रव्यकर्मबंध और भावकर्मबंध**— गोम्मटसार कर्मकाण्ड में “पोग्गलपिंडो दव्वं” पुद्गल के पिण्ड को द्रव्यकर्म कहा है, उसमें रागादि उत्पन्न करने की शक्ति भावकर्म है। अध्यात्मदृष्टि से जीव के प्रदेशों का सकम्प होना भावकर्म है। जीव के प्रदेशों के कम्पन द्वारा पुद्गलकर्मों का जीव प्रदेशों में आगमन होता है। पश्चात् राग, द्वेष, मोहवश बंध होता है।

आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य तथा भावबंध के विषय में इस प्रकार कहा है —

**वज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेणभावबंधो सो ।**

**कम्मादपदेसाणं अण्णाणण पवेसणं इदरो ॥**

चैतन्य की जिस रागादि रूप परिणति के द्वारा कर्मों का बंध होता है, उसे भावबंध कहते हैं। कर्मों और आत्मा का परस्पर प्रवेश हो जाना द्रव्यबंध है।

**क्या आत्मा सर्वथा अमूर्त्तिक है?**— आत्मा और कर्मों के सम्बंध के विषय में अनेकांत दृष्टि को स्पष्ट रूप से समझाते हुए पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में आगम की यह गाथा उद्धृत करते हैं —

**बंधंपडि एयत्तं लम्बवादो हवदि तस्स णाणत्तं ।**

**तम्हा अमुत्तिभावो णेगंतो होदि जीवस्स ॥**

बंध की अपेक्षा जीव और कर्म की एकता है। स्वरूप की दृष्टि से दोनों में भिन्नता है, इससे जीव के अमूर्त्तपने के बारे में एकांत नहीं है।

**कर्म मूर्त्तिक क्यों है?**— जयधवला टीका (1/57) में लिखा है —

तं पि मुत्तं चैव । तं कथं णव्वदे? मुत्तो सह सम्बन्धेण परिणामांतरगमण ण्णाहाणुववतोदो । ण च परिणामान्तर गमणमसिद्धं, तस्य तेण विणा जर कुट्टकखयादीणं विणासाणुववत्तीए परिणामंतरगमणसिद्धीदो — कर्म मूर्त्त हैं। इसका कारण यह है कि यदि कर्म को मूर्त्त न माना जाए तो मूर्त्त औषधि के सम्बंध से परिणामान्तर की उत्पत्ति नहीं हो सकती अर्थात् रुग्णावस्था में औषधि ग्रहण करने से रोग के कारण कर्मों की उपशांति देखी जाती है, वह नहीं बन सकती है। औषधि के द्वारा परिणामान्तर की प्राप्ति असिद्ध नहीं है, क्योंकि परिणामान्तर के अभाव में ज्वर, कुष्ठ तथा क्षय आदि रोगों का विनाश नहीं बन सकता। अतः कर्म में परिणामान्तर की प्राप्ति होती है, यह बात सिद्ध होती है।

कर्म मूर्त्तिमान तथा पौद्गलिक है। जीव अमूर्त्तिक तथा अपौद्गलिक है, अतः जीव से कर्मों को सर्वथा भिन्न मान लिया जाए तो क्या दोष है? इस विषय में वीरसेन आचार्य जयधवला में इस प्रकार प्रकाश डालते हैं — जीव से यदि कर्मों को भिन्न माना जाए तो कर्मों से भिन्न होने के कारण अमूर्त्त जीव का मूर्त्त शरीर तथा औषधि के साथ सम्बंध नहीं हो सकता। इससे जीव तथा कर्मों का सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। शरीर आदि के साथ जीव का सम्बन्ध नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि शरीर के छेदे जाने पर दुःख की उत्पत्ति होने से जीव तथा कर्मों का सम्बन्ध सूचित होता है। एक के छेदे जाने पर सर्वथा भिन्न दूसरी वस्तु में दुःख की उत्पत्ति नहीं पाई जाती। ऐसा मानने पर अव्यवस्था होगी।<sup>22</sup>

**कर्म आगमन का द्वार**— आत्मा में कर्मों के प्रवेश द्वार को आस्रव कहा गया है। मनोवर्गणा, वचनवर्गणा तथा कायवर्गणा में से किसी एक के अवलम्बन से आत्म प्रदेशों में सकम्पता उत्पन्न होती है, उससे कर्मों का आगमन हुआ करता है, इसे ही योग कहते हैं।<sup>23</sup>

भाव मन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है, वह मनोयोग है। वचन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है, वह वचनयोग होता है। काय की क्रिया की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है, वह काय योग है।<sup>24</sup>

**कर्मबंध के भेद**—योग और कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ कर्म परमाणुओं का जो बंध होता है, वह चार प्रकार का होता है—प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध।

**प्रकृति बंध**—प्रकृति नाम स्वभाव का है। आने वाले कर्मपरमाणुओं के भीतर जो आत्मा के ज्ञान-दर्शनादिक गुणों के आवरण रूप स्वभाव पड़ता है, उसे प्रकृतिबंध कहते हैं।<sup>25</sup>

**स्थिति बंध**—स्थिति नाम काल की मर्यादा का है। कर्म-परमाणुओं के आने के साथ ही उनकी स्थिति भी बंध जाती है कि ये अमुक समय तक आत्मा के साथ बंधे रहेंगे।<sup>26</sup>

**अनुभाग बंध**—कर्मों के फल देने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। कर्म परमाणुओं में आने के साथ ही तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति भी पड़ जाती है, इसी को अनुभाग बंध कहते हैं।<sup>27</sup>

**प्रदेश बंध**—जीव प्रदेशों का और कर्मप्रदेशों का जो सम्बंध होता है, उसका नाम प्रदेश बंध है।<sup>28</sup>

इन चारों बंधों में से प्रकृति बंध और प्रदेश बंध का कारण योग है तथा स्थिति बंध और अनुभाग बंध का कारण कषाय है।

**प्रकृति बंध के भेद**—चारों प्रकार के बंधों में प्रकृतिबंध के आठ भेद हैं—1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयुष्य, 6. नाम, 7. गोत्र और 8. अन्तराय।

1. **ज्ञानावरण**—ज्ञान के आवरक कर्म को ज्ञानावरण कहते हैं।<sup>29</sup>

2. **दर्शनावरण**—दर्शनावरण की प्रकृति पदार्थ का अवलोकन न होने देना है अर्थात् जो पदार्थ के दर्शन में बाधक हो, उसे दर्शनावरण कहते हैं। दर्शन गुण के आवरक कर्म को दर्शनावरण कहा जाता है। जैसे—प्रतिहार (द्वारपाल) राजा के दर्शन की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को उसके दर्शन में बाधा पहुंचाता है, वैसे ही दर्शनावरण कर्म पदार्थ के दर्शन के बाधा पहुंचाता है।<sup>30</sup>

3. **वेदनीय**—जो पुद्गलस्कन्ध मिथ्यात्व आदि कारणों के वश कर्मपर्याय रूप से परिणत होकर जीव के लिए सुख-दुःख का कारण होता है, उसे वेदनीय कहा जाता है।<sup>31</sup>

4. **मोहनीय**—जो प्राणियों को मोहित करता है, उन्हें सत्, असत् के विवेक से रहित करता है, उसका नाम मोहनीय है।<sup>32</sup>

5. **आयु**—भव को प्राप्त कराने वाले कर्म को आयु कहते हैं। जो पुद्गल मिथ्यात्वादि कारणों से नरकादिभवधारण करने की शक्ति से परिणत होकर जीव में निविष्ट हैं, उनकी आयु संज्ञा है।<sup>33</sup>

6. नाम — जो जीव को नमाता है, गति आदि के प्रति नम्रीभूत करता है, उसे नामकर्म कहा जाता है।<sup>14</sup>

7. गोत्र — मिथ्यात्व आदि कारणों के द्वारा जीव के साथ सम्बंध को प्राप्त हुआ जो कर्मपुद्गलस्कन्ध ऊँच अथवा नीच कुल में उत्पन्न करता है, उसे गोत्र कहते हैं। सन्तान क्रम से आए हुए आचरण का नाम गोत्र है।<sup>15</sup>

8. अन्तराय — जो कर्म दाता और देय आदि के बीच में आता है। दान देने में रुकावट डालता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि में विघ्न करने में समर्थ पुद्गलस्कन्ध कारणों सहित जीव से समवेत हुआ अन्तराय इस नाम से कहा जाता है।<sup>16</sup>

घाति और अघाति कर्म — क्रम से केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व व चारित्र तथा वीर्यरूप जीव गुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय — इन चार कर्मों को घातिकर्म कहा जाता है।<sup>17</sup> शेष अघाति कर्म कहे जाते हैं।

घातिकर्म के भी दो भेद हैं — देशघाती और सर्वघाती। जो कर्म आत्मा के गुण का एकदेश घात करता है, वह देशघाती कहलाता है और जो आत्मगुण का पूर्णरूप से घात करता है, वह सर्वघाती कहलाता है। अघातिकर्मों के भी दो भेद हैं — 1. पुण्य कर्म और 2. पाप कर्म। सातावेदनीय, शुभ आयु, नाम कर्म की शुभ प्रकृतियां और उच्चगोत्र पुण्यकर्म हैं और शेष प्रकृतियां पापकर्म हैं।<sup>18</sup>

कर्मों की उत्तर प्रकृतियां — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान, इनको आवरण करने वाले कर्म पांच ज्ञानावरण हैं।<sup>19</sup> चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन — इन चारों के चार आवरण तथा निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि — ये पांच निद्रादिक ऐसे नौ दर्शनावरण हैं।<sup>20</sup> सद्देह और असद्देह — ये दो वेदनीय हैं।<sup>21</sup> दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय इनके क्रम से तीन, दो, नौ और सोलह भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय — ये तीन दर्शनमोहनीय हैं। अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय — ये दो चारित्रमोहनीय हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद — ये नौ अकषायवेदनीय हैं तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन — ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से सोलह कषायवेदनीय हैं।<sup>22</sup> नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु — ये चार आयु हैं।<sup>23</sup> गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति तथा प्रतिपक्षभूत प्रकृतियों के साथ अर्थात् साधारण शरीर और प्रत्येक शरीर, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनोदय और आदेय, अयशःकीर्ति और यशःकीर्ति एवं तीर्थकरत्व — ये बयालीस नामकर्म के भेद हैं।<sup>24</sup> उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो गोत्रकर्म हैं।<sup>25</sup> दान, लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्य इनके पांच अन्तराय हैं।<sup>26</sup>

कर्मों की दस अवस्थायें — कर्मों की दस अवस्थाएं होती हैं, जिन्हें करण कहते हैं।



1. **बंध**— रागी जीव उदयप्राप्त जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है और उसके आश्रय से जो अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्म से सम्बन्ध होता है, उसका नाम बन्ध है।<sup>17</sup> कषाय से संयुक्त प्राणी योग के आश्रय से कर्मरूप परिणत होने के योग्य जो पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बंध कहलाता है।<sup>18</sup> मिथ्यात्वादि परिणामों से जो पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि रूप परिणमित होता है, वह ज्ञानादि को आवृत्त करता है, इस प्रकार का सम्बन्ध बंध है।<sup>19</sup>

2. **सत्ता**— बंधने के पश्चात् कर्म तत्काल फल नहीं देता, उस अवस्था को सत्ता कहते हैं।

3. **उदय**— कर्म की यथाकाल फल को प्राप्त कराने की सामर्थ्य का परिपाक उदय है।<sup>50</sup> अथवा द्रव्यादि का निमित्त पाकर जो कर्म का फल प्राप्त होता है, उसे उदय कहा जाता है।<sup>51</sup>

4. **उदीरणा**— अधिक स्थिति व अनुभाग को लिए हुए जो कर्म स्थित हैं, उनकी उस स्थिति व अनुभाग को हीन करके फल देने को उन्मुख करना, उसका नाम उदीरणा है।<sup>52</sup> कर्म के फल देने के दो प्रकार हैं— समय पर फल देने का नाम उदय और असमय में फल देने का नाम उदीरणा है।<sup>53</sup> जैसे— पेड़ पर लगा आम पके तो वह सामयिक पकना है और उसे कच्ची अवस्था में तोड़कर भूसे वगैरह में दबाकर जल्दी पका लिया जाए तो वह असमय का पकना है। इसी तरह बंधे हुए कर्म जीव के परिणामों का निमित्त पाकर असमय में भी उदय में लाकर नष्ट किए जा सकते हैं, इसे उदीरणा कहते हैं।<sup>54</sup>

5. **अपकर्षण**— कर्मप्रदेशों की स्थितियों के हीन करने का नाम अपकर्षण है।<sup>55</sup>

6. **उत्कर्षण**— कर्मप्रदेशों की स्थिति के बढ़ाने को उत्कर्षण कहते हैं।<sup>56</sup>

7. **उपशम**— भस्म के समूह से ढकी हुई अग्नि के समान कर्म के उदय न होने रूप लक्षण वाली अवस्था का नाम उपशम है।<sup>57</sup>

8. **संक्रम**— प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों का अन्यथा स्वरूप से परिणमाना अथवा यही अन्य प्रकृति रूप परिणमाना, इसका नाम संक्रमण करण है।<sup>58</sup> विवक्षित प्रकृति का जो अन्य प्रकृति में गमन या परिवर्तन होता है, उसे संक्रम या संक्रमण कहते हैं।<sup>59</sup>

9. **निधत्ति**— जो कर्म का प्रदेशपिण्ड न तो उदय में दिया जा सके और न अन्य प्रकृतियों में संक्रान्त भी किया जा सके, उसे निधत्त या निधत्ति कहा जाता है। उद्वर्तना और अपवर्तना करणों को छोड़कर शेष करणों के अयोग्य रूप से जो कर्म को व्यवस्थापित किया जाता है, उसे निधत्तिकरण कहते हैं।<sup>60</sup>

**कर्म और गुणस्थान**— मोक्ष के लिए प्रयत्नशील जीव की अभ्युन्नति के सूचक चौदह दर्जे हैं, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। ज्यों-ज्यों जीव ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता जाता है, उसके कर्मों के बंध, उदय और सत्ता में ह्रास होता जाता है। जैसे कर्मस्तव गाथा 2-3 में बतलाया गया है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में दस प्रकृतियों के बंध का विच्छेद होता है। इसी तरह आगे पांचवें गुणस्थान में चार का, छठे में छः का, सातवें में एक का, आठवें में छत्तीस का, नौवें में पांच का, दसवें में सोलह का और तेरहवें संयोग गुणस्थान में एक सातावेदनीय का बंधविच्छेद होता है।

इस प्रकार प्राकृत ग्रंथों में कर्मसिद्धान्त का विशद विश्लेषण किया गया है।

## सन्दर्भ :

1. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 304
2. इन ग्रंथों के संक्षिप्त परिचय के लिए देखें— 1. जैन साहित्य का इतिहास भाग-1 (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित) एवं जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-4 (डॉ. मोहनलाल मेहता एवं प्रो. हीरालाल कापड़िया)
3. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-4, पृ. 114
4. आचार्य कुन्दकुन्द, पंचास्तिकाय-65
5. वही, 67, 6. वही, 68, 7. वही, 69
8. पंचास्तिकाय-133
9. समयसार-82, 10. 85, 11. 86-88, 12. 89-90, 13. 140-144
14. 145-146, 15. 147-148, 16. 149-50, 16. 153-154, 17. 230-231
18. 339, 19. 340-341,
20. प्रवचनसार 173, 21. 174
22. कषायपाहुङ्ग सूत्र की पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. 33
23. पुगलविद्देहोदयेण मण वयण काय जुत्तस्स ।  
जीवस्सजा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ गो.जी. 216
24. धवला पु. 1, पृ. 279
25. प्रकृति स्वभावः-सर्वार्थसिद्धि 8/3
26. तेषामेव कर्मरूपेण परिणतानां पुद्गलानां जीवप्रदेशेः सह यावत्काल मनस्थितिः स स्थितिबन्धः  
मूला., पृ. 5/47
27. कम्माणं समकज्जकरणसत्ती अणभागो णाम (जयधवला 5, पृ. 2)
28. अशुद्धान्तंस्तत्व कर्मपुद्गलयोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः ॥— नियमसार वृत्ति 40
29. णाणमववोहो अवगमो परिच्छेदो इदि एयट्ठो ।  
तभावरेदि त्ति णाणावरणीयं कम्मं ॥ धवला पु. 6, पृ. 6
30. दसणस्स आवारयं कम्मं दंसणावरणीयं (धवला पु. 13, पृ. 208)  
दंसणसीले जीवे दंसणघायं करेइ जं कम्मं । तं पडिहारसमाणं दंसणावरणं भवे वीयं । जह रण्णोपहिहारो  
अणभिप्पेयस्स सो उलोयस्स । रण्णो तहि दरिसावं न देइ दट्ठु पि कामस्स । जह राया तह जीवो  
पडिहारसमतु दसणावरणं । तेणिह विवंधरणं न पिच्छइ सो घडाइयं ॥ कर्म वि.ग. 19-21
31. वेद्यत इति वेदनीयम् अथवा वेदयतीति वेदनीयम् । जीवस्स सुहदुक्खाणुहवणणिवंधणो पोग्गलक्खंधो  
मिच्छत्तादिपच्चयवसेण कम्मपज्जयचरिणदो जव समवेदो वेदणीयमिदि भण्णदे ॥ ध.पु. 6, पृ. 10
32. मुहयत इति मोहनीयं अथवा मोहयतीति मोहनीयम् । ध.पु. 6, 12
33. एत्ति भवधारणं प्रति इत्यायुः । जे पोग्गला मिच्छत्तादिकारणेहिं णिरयादि भवधारणसत्ति परिणदा  
जीवणि वट्ठा ते आयुअसण्णिदा होत्ति ॥ धव.पु. 6, पृ. 12
34. नामयति परिणमयत्यात्मानं तैस्तैर्मत्यादिभिः पर्यायेरिति नाम ॥ कर्मस्त.गो. पृ. 10, पृ. 17
35. गमयत्युच्चनीचकुलमिति गोत्रम् उच्चनीचकुलेशु उप्पादओपोग्गलक्खंधो मिच्छत्तादिपच्चएहि  
जीवसंबद्धो गोदमिदि उच्चदे (धव.पु. 6, पृ. 12, पु. 13, पृ. 20) संताणकमेणागयजीवायरणस्स

गोदमिदि सण्णा । (गो.क. 13)

36. अन्तरमेति गच्छति हयोरित्यन्तरायः । दाणलाहमोगोवभोगादिसुविग्घकरणक्खमो पोग्गलक्खंधो सकारणेहि जीवसमवेदो अन्तरायमिदि भण्णदे ॥ ध.पु. 6, पृ. 13-14
37. ण्णाणावरण-दंसणावरण मोहणीयं अतराइयाणि घादिकम्माणि, केवलायां दंसण सम्मत-चरित्र वोरियाणमणेयभेदधिण्णाणं जीव गुणाणं । विरोहित्तणेण तेसि घादिववदेसादी (धवला पु.7, पृ. 62)
38. सद्देघ शुभायुनिम गोत्राणि पुण्यां, अतौअन्यत्पापै ॥ त.सू. 8/24-25
39. त.सू. 8/6, 40. वही, 8/7, 41. वही, 8/8, 42. वही, 8/9
43. वही, 8/10, 44. वही, 8/11, 45. वही, 8/12, 46. वही, 8/13
47. जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि आप्पा सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकामेण विविहेण ॥ पंचास्तिकाय-147
48. जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा ।  
गेण्हइ पोग्गलदव्वे बंधो सो होदि पायटवो ॥ मूलाचार-12-183
49. मिथ्यात्मादियरिणामैर्यत्पुद्गलद्रव्यं ज्ञानावरणादिरूपेण परिणमति तच्च ज्ञानादीन्यावृणोतीत्यादि सम्बन्धो बन्धः ॥ — गो.के.जी.प्र.टी. 438
50. कर्पणो यथाकालं फलोपजननसामर्थ्यपरिपाक उदयः । सिद्धिविनिश्चय टीका 4-10, पृ. 268
51. द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः ॥ सर्वार्थसिद्धि 2-1
52. जे कम्मक्खधा महंतेसु द्विदि अणुभागेसु अवट्टिदा ओकड्डिदूण फलदाडपो कीरंति तेसिमुदीरणात्ति सण्णा, अपक्कपाचनस्य उदीरणा व्यपदेशात् ॥ धवला पुस्तक 6, पृ. 214
53. अप्राप्तकाल फलानां कर्मणामुदए प्रवेशनमुदीरणा । स्थानांग अभय वृ. 4, 2, 296, पृ. 210
54. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 30
55. पेदसाणं ठिदीणमोवट्टणा ओक्कड्डुणा णाम । धव.पु. 10, पृ. 53
56. कम्मपदेसट्टिदिवड्डुणमुक्कड्डुणा ॥ धव.पु. 10, पृ. 22  
उक्कटुड्णं हवे वट्टी ॥ गो.क. 438
57. उपशमनमुपशमः । कर्मणोऽनुदयलक्षणावस्था भस्मपटलावच्छन्नाग्निवत् । त.भा.हरि. व सिद्ध वृ. 2-1
58. तत्थ पगत्तिट्टिदि अणुभाग-पदेसाणं अण्णहाभाव परिछामणं अण्णपगत्ति परिणामणं इहं वा संकमणकरणं । कर्म प्र.च. 2
59. परप्रकृति रूपरिणमनं संक्रमणम् । गो.क.जी., पृ. 438
60. जं पदेसगं ण सक्कमुदए दादुं अण्णपयहिं वा संकामेदुं तं णिधत्तं णाम । (धव.पु. 9, पृ. 235),  
पदेसगं णिधत्तीकयं उदए दादुं णोसक्कं, अण्णपयडिं संकाभिदुं पि णो सक्कं, ओक्कड्डिदुमुक्कड्डिदुं च सक्कं, एवं विहस्स पदेसगस्स णिधत्तमिदि सण्णा । (धव.पु. 16, पृ. 516)
61. जं पदेसगं ओक्कड्डिदुं णो सक्कं उक्कड्डिदुं णो सक्कं अण्णपयडिं संकामिदुं णो सक्कं उदयदादुं णो सक्कं तं पदेसगं णिकाचिदं णाम ॥ धवला पु. 16, पृ. 517

जैन मन्दिर के पास  
बिजनौर (उ.प्र.) 246701

# जैन दर्शन में गुणस्थान : आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया

—मुनि मदनकुमार

मनुष्य में विकास की प्रबल इच्छा होती है। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से उसमें विकास की अर्हता हाती है। पदार्थ और चेतना को विकास के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है — अविकसित, विकासशील और विकसित। पदार्थ के विकास के आधार पर राष्ट्रों का वर्गीकरण तथा चेतन के विकास के आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण किया जाता है। पदार्थ मूर्त है, वह हमारी इन्द्रिय चेतना का विषय है। मनुष्य पदार्थ को जानता है, उसके महत्त्व और सामर्थ्य को जानता है, इसलिए भौतिक विकास करता है। सुख-सुविधा के नये-नये पदार्थों का आविष्कार करता है। मनुष्य आत्मा को जान जाये, उसके प्रति आस्था और निष्ठा पैदा हो जाये तो जीवन में आध्यात्मिक विकास भी संभव है। यह सच है कि भौतिक विकास सरल है और आत्म-विकास कठिन। हम पदार्थ से घिरे हुए हैं। चारों ओर पदार्थ का एक छत्र शासन है। वह सहज बुद्धिगम्य है। आत्मा अमूर्त और इन्द्रियातीत है। पदार्थ की तरह आत्मा भी शक्तिसंपन्न है। पदार्थ की शक्ति से मनुष्य परिचित है जबकि चेतना की शक्ति से अपरिचित। विज्ञान और तकनीकी के युग में पदार्थ की शक्ति को जाना गया है और उसका अभिव्यक्तिकरण भी किया गया है। कम्प्यूटर, रोबोट, टी.वी., टेलीफोन आदि पदार्थ-शक्ति के विकास के निदर्शन हैं। पूर्वजन्म स्मृति, अतीन्द्रिय ज्ञान, दूरबोध, अन्तर्दृष्टि आदि आत्म-शक्ति के विकास के प्रतिफल हैं।

आत्मा का शुद्ध, बुद्ध और सच्चिदानंद स्वरूप परमात्मा है। आत्मा अपने संयम और पौरुष से परमात्मा बनने की क्षमता रखती है। कर्म और कषाय से मुक्त आत्मा परमात्मा है। हमारी आत्मा अनंत चतुष्टयी से सम्पन्न है। उसमें अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति विद्यमान है। कर्मोदय से आत्मा आवृत्त, विकृत और प्रतिहत

हो जाती है। धर्माधना से आत्मा शुद्ध और स्वस्थ बनती है। जैन परंपरा में आत्मा की शुद्धता और अशुद्धता के हेतु हैं — संवर और आश्रव। कर्म ग्रहण का आत्म परिणाम या कर्म आगमन का द्वार आश्रव कहलाता है। कर्म निरोध का आत्म परिणाम या कर्म आगमन के द्वार का निरोध संवर कहलाता है। यह आश्रव और संवर की तात्त्विक परिभाषा है। आश्रव संसार-भ्रमण का हेतु है और संवर मुक्ति का। पदार्थ-निष्ठा आश्रव है और आत्म-निष्ठा संवर। आश्रव का अल्पीकरण और संवर की वर्द्धमानता आध्यात्मिक जीवन की सफलता है। आध्यात्मिक आरोहण को गुणस्थान के माध्यम से भली-भांति हृदयंगम किया जा सकता है। मकान की ऊँची मंजिल और पहाड़ की चोटी तक पहुंचने में जो महत्त्व सीढ़ी का होता है, वही महत्त्व जैन दर्शन में आत्म-विकास के लिए गुणस्थान का है। गुणस्थान आरोहण का अर्थ है — आश्रव की कमी और संवर की वृद्धि। प्रथम गुणस्थान में आश्रव की उत्कृष्टता है और संवर का अभाव। चौदहवें गुणस्थान में संवर की उत्कृष्टता है और आश्रव का अभाव।

जैन दर्शन का चिंतन और दृष्टिकोण व्यापक है। जैनदर्शन के अनुसार हर जीव में गुण है, अल्प या बहु-आत्म उज्ज्वलता और चैतसिक निर्मलता है, अतः हर जीव में गुणस्थान है। संसार का कोई भी जीव गुणस्थान से रहित नहीं है। गुणस्थान चौदह हैं तथा इनकी विविधता का आधार आत्म-विशोधि की तरतमता है। चौदहवें गुणस्थान के छूटने के बाद आत्मा मुक्त और सिद्ध बन जाती है। कर्मों का सर्वथा विलय हो जाता है। आत्मा समस्त गुणों से परिपूर्ण बन जाती है तथा सभी गुणस्थान कृतार्थ हो जाते हैं। जीव के दो प्रकार हैं—सिद्ध और संसारी। सिद्धों में गुणस्थान नहीं होता, क्योंकि वे कर्म और शरीर से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। सभी गुणस्थानवर्ती जीव संसारी कहलाते हैं, क्योंकि वे कर्म और शरीर सहित होते हैं। हर प्राणी में व्यक्त या अव्यक्त सदगुण होते हैं, यही गुणस्थान है। सम्यक् दर्शन, व्रत चेतना, अप्रमाद अवस्था आदि आत्मा के विशिष्ट गुण हैं, ये गुणस्थानों की आधारशिला है। विपरीत आस्था, अव्रत भावना, आत्म विस्मृति, कषाय परिणाम और आत्म-चंचलता — ये गुणस्थान नहीं हैं। संयम, समता, करुणा, सत्य, प्रामाणिकता, पवित्रता आदि से प्राणी गुणस्थान का अधिकारी बनता है। कर्म-विलय की तरतमता के आधार पर संसारस्थ जीवों को चौदह वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कर्म के रंगमंच पर सबसे अधिक प्रभावशाली है — मोह या राग-द्वेष के परमाणु। मोह-विलय जीवन की सर्वोच्च सफलता है।

### चौदह गुणस्थान का स्वरूप

अनंतानंत जीवों का आश्रय प्रथम गुणस्थान है। इसमें जीव की तत्त्व-श्रद्धा विपरीत होती है। जीव, साधु, मार्ग, धर्म और मोक्ष को यथारूप स्वीकार न करने वाला तथा अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क को न भेद पाने वाला जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। मिथ्या दृष्टि व्यक्ति में पायी जाने वाली आत्म-विशुद्धि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाती है। अभव्य जीवों की अपेक्षा यह गुणस्थान अनादि-अनंत है। इस गुणस्थान के छूटने से जीव मोक्षगामी बन जाता है। सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर अग्रसर जीव में स्वल्पकालीन दूसरा गुणस्थान होता है। सम्यक्त्व और

मिथ्यात्व के बीच की अवस्था का नाम सास्वादन सम्यग् दृष्टि है। सम्यक्त्व से च्युत होने पर थोड़ी देर सम्यक्त्व का स्वाद रहता है, यह सास्वादन सम्यग् दृष्टि नामक दूसरा गुणस्थान है। तीसरे गुणस्थान में तत्त्व विषयक संदेहशील अवस्था रहती है। निश्चयात्मक चिन्तन न होने से इसे मिश्र गुणस्थान कहते हैं। चौथे गुणस्थान में सम्यग् दर्शन की प्राप्ति और आत्म-साक्षात्कार की भूमिका का निर्माण होता है। इसमें आत्मचिंतन की प्रक्रिया सुव्यवस्थित बनती है। इसमें सत्य के प्रति आस्था जागती है, किंतु अस्वरण नहीं। यथार्थ का बोध होने पर भी त्याग की चेतना विकसित नहीं होती है। पांचवे गुणस्थान में सत्य के आंशिक आचरण तथा छठे गुणस्थान में सत्य के संपूर्ण आचरण की भूमिका बनती है। पांचवे गुणस्थान में अत्रत रहने से देशविरति गुणस्थान तथा छठे गुणस्थान में अत्रत का समूल विच्छेद होने से प्रमत्त संयत गुणस्थान कहलाता है। सातवें गुणस्थान में आत्म-स्मृति, आत्म-उत्साह और आत्म-जागरूकता प्रकर्ष स्थिति में रहने से अप्रमत्त संयत गुणस्थान कहलाती है। सातवें गुणस्थान में आत्मोन्मुखता के साथ आत्मानंद और परमानंद की अवस्था प्राप्त होती है। यह अप्रमत्त साधक की महान् अवस्था है। जीवन में आत्मोत्कर्ष के क्षणों की उपलब्धि है। आठवें गुणस्थान में चैतन्य में अपूर्व पराक्रम की स्थिति का आगमन होता है। यह स्थिति दुर्लभ है। इसमें अभूतपूर्व आत्म-विशुद्धि होती है। इसमें मोह चेतना पर जबर्दस्त प्रहार होता है और इसमें प्रायः स्थूल कषाय की निवृत्ति हो जाती है, इसलिए इसे निवृत्तिबादर गुणस्थान कहते हैं।

इससे आत्मारोहण की दो श्रेणियां निश्चित होती हैं। मोह कर्म को दबाने की प्रणाली उपशम श्रेणी तथा मोह कर्म को खपाने की प्रणाली क्षपक श्रेणी कहलती हैं। उपशम श्रेणी में अवरोध आता है तथा पुनः लौटने की स्थिति बनती है जबकि क्षपक श्रेणी से आरोहण करने वाला चैतन्य-विकास के शिखर पर पहुंच जाता है। उपशम श्रेणी को एलोपैथी चिकित्सा पद्धति तथा क्षपक श्रेणी को आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति की उपमा दी जा सकती है। एलोपैथी रोग का शमन करती है जबकि आयुर्वेदिक रोग का समूल नाश कर देती है। नौवें गुणस्थान में संज्वलन क्रोध, मान और माया का सर्वथा क्षय या उपशम हो जाता है, इसे अनिवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं। दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ अत्यधिक सूक्ष्म मात्रा में रहता है। अतः इसे सूक्ष्म संपराय गुणस्थान कहते हैं। उपशम श्रेणी से आरोहण करने वाला मोह कर्म का सर्वथा उपशमन कर ग्यारहवें गुणस्थान में तथा क्षपक श्रेणी से आरोहण करने वाला मोह कर्म का सर्वथा क्षय कर बारहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है, इन्हें क्रमशः उपशांत मोह गुणस्थान और क्षीण मोह गुणस्थान कहते हैं। इन दोनों की समान आत्म-विशुद्धि होने से इन्हें वीतराग-अवस्था की प्रतिष्ठा मिलती है। बारहवें गुणस्थान वाला तेरहवें गुणस्थान में जाकर अवशिष्ट तीन धाति कर्मों का क्षय कर देता है तथा कैवल्य अवस्था को उपलब्ध हो जाता है। चिरकाल तक धर्मोद्योत के पश्चात् चौदहवें गुणस्थान में शैलेशी अर्थात् निष्प्रकंप अवस्था को प्राप्त कर लेता है, इन्हें क्रमशः सयोगी केवली और अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। चौदहवें गुणस्थान की स्वल्प कालावधि को पूर्ण कर जीव मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त कर लेता है तथा लोकांत में जाकर शाश्वत सुखों में लीन हो जाता है। □□□

# जैन साहित्य और दर्शन की प्रासंगिकता

— डॉ. मनमोहन स्वरूप माथुर

भारतीय धर्म-दर्शन के क्षेत्र में ब्राह्मण-श्रमण, प्रवृत्ति-निवृत्ति और आस्तिक-नास्तिक शब्दयुग्मों का प्रचलन प्राचीन है। वस्तुतः ये शब्द और युग्म भारतीय जीवन पद्धति को और उसके चिंतन को दर्शाने वाले हैं। ब्राह्मण धर्म या दर्शन (संस्कृति) सनातन है तो श्रमण धर्म-दर्शन (संस्कृति) परवर्ती। बौद्ध और जैनधर्म के आचारांग श्रमण हैं और इनमें दीक्षित भिक्षु एवं श्रावक। इस प्रकार वैदिक धर्म प्रायः ब्राह्मण धर्म-दर्शन कहलाया जबकि श्रमण धर्म-दर्शन विशिष्ट रूप से जैन संस्कृति के लिए प्रयुक्त होने लगा। इन तीनों शब्द युग्मों में धर्म-दर्शन के लिए लोक प्रचलित पद ब्राह्मण-श्रमण ही प्रयुक्त रहा। इसके विपरीत आस्तिक-नास्तिक का अर्थ धर्म को मानने वालों के अर्थ में तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति उनकी फल प्राप्ति के रूप में प्रचलित रहा अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति वाला धर्म प्रवृत्तिमार्गी एवं मोक्ष न करवाने वाला धर्म निवृत्तिमार्गी कहलाया।

प्रायः आस्तिक और ब्राह्मण संज्ञक धर्म-दर्शन प्रवृत्तिमार्गी एवं आचारांग अथवा श्रमण-आश्रित धर्म-दर्शन निवृत्तिमार्गी कहे जाते हैं। किन्तु निरपेक्ष भाव से यह कहना उचित नहीं कि श्रमण परम्परा शुद्ध रूप से नास्तिक तथा निवृत्तिमार्गी ही है। साथ ही यह भी भ्रांति ही है कि ब्राह्मण परम्परा विशुद्ध प्रवृत्तिमार्गी अथवा आस्तिक ही है। वस्तुतः न तो श्रमण परम्परा निंदक है और न ही ब्राह्मण परम्परा श्रमण विरोधी। भारतीय समाज में दोनों परम्पराओं का सात्विक समन्वय रहा है। यह बात जैन आचारांगों से भी प्रमाणित है। त्रिपिटक (बौद्ध) एवं उत्तराध्ययन (जैन) में वर्णित कथाएं तथा दृष्टांत इसके प्रमाण हैं। दोनों ही विचारधाराओं का आधार आत्मा है। अन्तर यही है कि ब्राह्मण धर्म-दर्शन एकात्मवाद से प्रभावित है जबकि जैनदर्शन अनेकात्मवादी है। इसी आधार पर जैन धर्म-दर्शन में पुनर्जन्मवाद को महत्त्व मिला।

इस आलेख में हमारा मूल लक्ष्य जैन साहित्य और उसमें निहित दर्शन की प्रासंगिकता का प्रतिपादन करना है, अतः जैन धर्म-दर्शन से संबंधित साहित्य एवं तत्सम्बन्धी ऋषि-मुनियों, श्रावकों की रचनाओं के आलोक में अपनी बात को प्रमाणित करने का ही प्रयत्न यहां रहेगा।

जैन धर्म-दर्शन परम्परा में तीर्थकरों का विशिष्ट महत्त्व है। इन्हीं की वाणी जैन साहित्य का मर्म है। शास्त्रीय दृष्टि से यह अंग और उपांग संज्ञाओं से अभिहित हैं।<sup>१</sup> इन रचनाओं के लिए श्रमण-संस्कृति में आगम ग्रंथ सन्दर्भ नाम भी प्रचलित हैं।<sup>१</sup> इनका वही महत्त्व है जो ब्राह्मण संस्कृति में वेदों का। जीवन का परम लक्ष्य है सत्य। भगवान् महावीर ने अपने उद्देश्यों में सतर्क प्रतिपादन किया है। यद्यपि जैन तीर्थकरों द्वारा प्रतिबोधित उपदेश अति प्राचीन हैं। आज का वातावरण उस काल विशेष से नितान्त भिन्न है, फिर भी इतना बड़ा जैन समाज आज इक्कीसवीं सदी के आरंभ में भी पूर्ण विश्वास के साथ उनकी पालना कर रहा है।

आज सर्वत्र औद्योगिक क्रांति, भौतिकवादी ऊहापोह तथा वैश्वीकरण से मानव-जीवन संतप्त हैं। इस वातावरण ने प्रत्येक सामाजिक के चिंतन को झकझोरा है और उसमें अनेक असीमित लालसाओं को बढ़ाया है। इस नये दृष्टिकोण को सिर्फ मानव की आध्यात्मिक प्रवृत्ति ही समन्वित कर सकती है। धर्म-तत्व अथवा भक्तियोग दोनों ही ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों में विद्यमान हैं। इसीलिए श्रमण संस्कृति से सम्बंधित दार्शनिक सिद्धांतों से देश, समाज एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समन्वय स्थापित किया जा सकता है। जैन धर्म-दर्शन का स्याद्वाद, सम्यक् त्रय, पंचव्रत, अणुव्रत सम्बन्धी विचारधाराएं इसके प्रमाण हैं। उदाहरणार्थ मोक्ष की अवधारणा को लें। ब्राह्मण दर्शन में सद्कर्मों द्वारा मोक्षप्राप्ति की बात कही गई है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी भगवान् महावीर ने इसी सत्य को उद्घाटित किया है-

थवथुई मंगलेण भन्ते, जीवे किम् जणयई?  
 थव थुई मंगलेणं दंसण चरित्त बोहिलाभं जणयई।  
 णाण चरित्त बोहिलाभं संपन्ने थणं जीवे अंत करियम्।  
 कप्प विमाणो ववत्तयं आराहणं आराहेइ।<sup>१</sup>

अनेक पंथों और सम्प्रदायों के अस्तित्व में आ जाने तथा भारत की धर्मनिरपेक्षता प्रवृत्ति के कारण ब्राह्मण धर्म-दर्शन की काफी अवहेलना हुई है। साथ ही ब्राह्मण धर्मदर्शन की उदार भावना के कारण भी यहां धार्मिक सहिष्णुता रही। इसके विपरीत श्रमण धर्म-दर्शन का विकास सुधारात्मक प्रवृत्ति के कारण हुआ। जागतिक सम्बन्धों का निषेध कर चित्त-वृत्तियों को संयमित रखते हुए आत्मस्थ होकर साधनारत हो आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त करना ही श्रमण संस्कृति में जीवन का लक्ष्य है। प्रेयस् का निषेध और श्रेयस् की प्रतिष्ठा है, 'अतः इसके अनुयायियों ने पूरी ब्रह्मा के साथ इसे ग्रहण किया। पंच महाव्रत, ध्यान, सामायिक आदि ने वर्तमान युग में फैलती भौतिकवाद की चकाचौंध में अपनी उपादेयता को बनाये रखा है।'



यद्यपि श्रमण संस्कृति में भी चार वर्ण हैं किन्तु इनका आधार कर्म है, वर्ण (जन्म) नहीं।<sup>7</sup> ब्राह्मण यहां भी श्रेष्ठ है किन्तु पौरुहित्य कर्म द्वारा नहीं। उनका शुद्ध आचरण एवं उच्च जीवनदृष्टि ही इसका आधार रही। इसी भांति क्षत्रिय वीर है, विजेता है तथा जिन है परन्तु उसकी विजय का आधार युद्ध नहीं बल्कि सद्कर्म है—इन्द्रियों पर विजय। बाह्य विजय की अपेक्षा आभ्यंतर विजय के आधार की विचारधारा के कारण ही जैन-धर्म दर्शन की आज के आपाधापी वाले युग में प्रासंगिकता बनी हुई है।

परिवर्तन जीवन की अनिवार्यता है। श्रमण-संस्कृति का स्याद्वाद इसी की व्याख्या करता है। स्याद्वाद के अनुसार परिवर्तन रहित कोई स्थायित्व नहीं है और स्थायित्व रहित कोई परिवर्तन नहीं। दोनों अपृथक्भूत है। परिवर्तन स्थायी में ही हो सकता है एवं स्थायी वही हो सकता है जिसमें परिवर्तन हो।<sup>8</sup> भावार्थ यह है कि निष्क्रियता तथा सक्रियता, स्थिरता और गतिशीलता का जो सहज समन्वित रूप है, वही द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अपने केन्द्र में ध्रुव, स्थिर एवं निष्क्रिय है। उसके चारों ओर परिवर्तन की अटूट श्रृंखला है। इसी मौलिक दृष्टि ने जैन-धर्म-दर्शन को मौलिकता प्रदान की है तथा उसे सामयिक बनाया है। समन्वय के लिए सहनशील होना जरूरी है, जो जैन धर्म-दर्शन में उपस्थित है। यह बात दूमरी है कि स्वयं जैन समाज उसे कहां तक ग्रहण किये हुए है। इसी बात पर अपनी चिन्ता अभिव्यक्त करते हुए आचार्य श्री महाप्रज्ञजी का जातिवाद के सदंर्भ में कथन है — “जैन आचार्य भी जातिवाद से अछूते नहीं रहे—यह एक सत्य है, इसे हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। आज भी जैनों पर जातिवाद का कुछ असर है। समय की मांग है कि जैन इस विषय पर पुनर्विचार करें।”<sup>9</sup>

जैन धर्मदर्शन के सैद्धान्तिक साहित्य की भांति ही उनके ऋषि-मुनियों द्वारा रचित लौकिक साहित्य (जीवनशैली) में भी जैनैतर संतों की-सी व्यावहारिकता का परिचय मिलता है। इनकी रचनाओं के अध्ययनोपरान्त एकदम ऐसा लक्षित नहीं होता है कि यह शुद्ध रूप से धार्मिक अथवा पंथ विशेष का साहित्य है। मध्यकालीन भारतीय समाज में अनेक धार्मिक विचारधाराएं पल्लवित रहीं। भक्ति सम्बन्धित अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आये, किन्तु जैन साहित्य को भक्ति साहित्य की विषयवस्तु के रूप में सिर्फ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ही स्वीकारा। वस्तुतः जैन भक्ति-साहित्य का लेखन विधिवत रूप से आठवीं शताब्दी से ही लिखा जाता रहा है।<sup>10</sup> उद्योतनसूरि की कुवलयमाला इसका प्रमाण है।

इस प्रकार जैन साहित्य के सृजन की परम्परा दीर्घकालिक है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जैन साहित्य पुष्पदंत-उद्योतन सूरि से आचार्य तुलसी, आचार्य हस्ती तक लगातार लिखा जाता रहा है। इनकी रचनाओं में भक्ति तत्व के साथ ही सामयिकता का पूर्ण चित्रण मिलता है। इसीलिए यह साहित्य वर्तमान परिस्थितियों में भी प्रासंगिक लगता है। इक्कीसवीं शताब्दी कम्प्यूटरजनित है। 19वीं शताब्दी के जैन कवि आनन्दघन की निम्नलिखित पंक्तियां आज के युग में भी सटीक लगती हैं, जिनमें परभाव और बाहर भटकने की मानव प्रवृत्ति को मूढ़ कर्म कहकर घट में बसे अनन्त परमात्मस्वरूप का ध्यान करने के लिए कहा है —

बहिरातम मूढा जग जेता, माया के फंद रहेता ।  
अंतरघट परमातम ध्यावै, दुर्लभ प्राणी तेना ॥

मध्यकालीन साहित्य में विचित्र भक्तिधाराओं का विकास हुआ। निर्गुण और सगुण भक्ति-पद्धति के अनेक पंथ एवं सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। जैन समाज में भी दिगम्बर-श्वेताम्बर संप्रदायों के पंथ और गच्छों (84 प्रकार के गच्छों) का अस्तित्व रहा। फिर भी जैन साहित्य ने युगीन परिस्थितियों में धार्मिक समन्वय का परिचय दिया। वैष्णवधर्मी सम्प्रदायों की खण्डन-मण्डन प्रवृत्ति से इनका साहित्य कोसों दूर रहा। उनका तो अर्हत् सदैव जिन (जितेन्द्र) ही रहा, क्योंकि जैनियों का इष्ट अर्हत् स्वपौरुष से भगवान है। राम-कृष्ण की भांति आरंभ से ही ब्रह्म के अवतारी नहीं। इसीलिए अर्हत् आठ कर्मों का क्षय कर शरीर को त्याग शुद्ध आत्मरूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। यह तर्क-संगति ही जैन साहित्य की प्रासंगिकता की स्थापना करती है। जैन संतों ने मध्यकाल से आज तक भारतीय अन्तश्चेतना को सुदृढ़ तथा जागरूक बनाये रखने का निरन्तर प्रयत्न किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जैन, बौद्ध, सिद्ध साहित्य को धार्मिक नोटिस मात्र कहकर अपने इतिहास की विषयवस्तु से पृथक् कर दिया। किन्तु संत शब्द की व्यापक व्याख्या में जैन साधु भी संत ही हैं, क्योंकि वे भी सांसारिक और भौतिक विषयादि से ऊपर उठे हुए हैं। काया को साधकर इन्द्रियों को वशीभूत कर केवलज्ञान की प्राप्ति जैन साधना का अन्तिम लक्ष्य होता है। यही कारण है कि संत साहित्य की भांति ही जैन भक्ति साहित्य में बाह्याडम्बरों का विरोध है। जैन कवियों ने अपनी रचनाओं में अपने नायकों को बाह्याडम्बरों का विरोध, सांसारिक असारता, चित्त शुद्धि का वर्णन करते हुए अपने गुरु द्वारा दीक्षित करवा कर संन्यासी बनाया है। संत रचनाओं में भी हमें यही चित्रण मिलता है। अन्तर है तो यही कि जैन साहित्य मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध रूप में अधिक लिखा गया, जबकि संत साहित्य मुक्तक रूप में ही मिलता है।

जैन रचयिता मूलतः संन्यासी हैं। सांसारिकता से उन्हें कोई मोह नहीं। पर वह समाज में जीता है, उसकी साधना अथवा भक्ति का सामाजिक महत्त्व है, अतः उसका अवलोकन भी जनरुचि एवं इष्ट के अनुरूप होना आवश्यक है। इसीलिए उन्होंने अपने काव्य की काव्याभिव्यक्ति अत्यन्त सरस और सहज रूप में की है। उदाहरणार्थ समय सुन्दरकृत चार प्रत्येक बुद्ध चोचई नामक रचना में चंद्रजस के पिता की मृत्यु पर उसकी प्रेयसी मदनेरेखा के पश्चात्ताप का चित्रण करते हुए कवि मार्मिक अनुभूति देता है-

मयणरेहा इम चिंतवे धिग धिग माहरो रूप ।

इण थी अनरथ उपनो मार्यो प्रीतम भूप ॥

मति मारे मुज पुत्र ने मणिरथ माहरे काज ।

सीन्य रतन राखण भणी जाउ किसमिस भाज ।

इम मन मांहे चिंतवी समझावी सुत सार ।

निसभर चाली एकली पूरब दिस सुविचार ॥<sup>12</sup>

भक्ति के क्षेत्र में गुरु का महत्त्व सदैव सिरमौर रहा है। जैन संत कवियों ने अपने गुरु-आचार्यों के प्रति जिस भावविह्वल पदावली का प्रयोग किया है, वह इनकी नवीन और मौलिक उपलब्धि कही जानी चाहिए। जैन कवियों के मंगलाचरणों अथवा पुष्पिकाओं में गुरु वंदना सम्बन्धी अनेक भावप्रधान दृश्य उपस्थित हुए हैं। उपाध्याय कुशललाभ की रचना पूज्यकहण गीत की पंक्तियां प्रस्तुत हैं जिनमें कवि ने सादर अपने अन्तर्मन को उंडेल दिया है—

इण अवसरि श्री पूज्य महा मोटा जती रे।

श्रावक ना सुख हेत आया त्रंभावती रे।

जोवड<sup>2</sup> अम गुरु रीति प्रतीति बधई वाली रे।

दिक्षारमणी साथ रमई मननी रली रे।।

प्रवचन वचन विस्तार अरथ तरवर घणा रे।

कोकिल कामिनी गीत गायइ श्री गुरुतणा रे।

गाजइ-गाजाइ गगन गंभीर श्री पूज्य नी देशना रे।

भवियण मोर चकोर थायइ शुभ वासना रे।

सदा गुरु ध्यान स्नान लहरि शीतल वहइ रे।

कीर्ति सुजस विसाल सकल जग मह महइ रे।

साते खेत्र सुठाम सुधर्मह नीपज्जइ रे।

श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख संपजइ रे।

जिहा-जिहा श्री गुरु आया, प्रवर्ते जिह किण रे।

दिन-दिन अधिक जगीस जो थाइज्जो तिह किणइ रे।

ज्यां लग मेरु गिरिन्द गयणि तारा घणा रे।

तां लागि अविचल राज करड, गुरु अम्ह तणा रे।

परता पूरण पास जिणेसर थंभणउ रे।

श्री गुरु ना गसुण ज्ञानहर्ष भवियण भणउ रे।

कुशललाभ कर जोडि श्री गुरु पय नमइ रे।

श्री पूज्यवाहण गीत सुणतां मन रमइ रे।<sup>13</sup>

जैन संतों की प्रासंगिकता इनके द्वारा प्रस्तुत समयानुरूप विचारों में भी है। इनकी चिंतन प्रणाली, विशिष्ट भावधारा, अभिव्यक्ति आदि को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी शब्द तथा भाव तत्कालीन एवं सामायिक समाज की विचारधारा में प्रवाहित रहे हैं। मुनि मोहनलाल 'आमेट' की इन पंक्तियों में इस प्रासंगिक शब्दावली का उदाहण प्रस्तुत है—

चुणोत्या है आज, चांद-तारां रै सामनै

विसवास रै, बिचारां रै मुण्डागै

क 'बिन्यां आपरी खिमता' रै, अन्तरिख-जुग में

कती क, राख सकेला, बै आपरी साख?<sup>14</sup>

आरंभ से आज तक का जैन साहित्य भारतीय-साहित्य की अनूठी उपलब्धि है। इस संदर्भ में आचार्य पुरुषोत्तमदास टण्डन की ये पंक्तियां बड़ी सटीक हैं, “इनकी बानी उसी रंग में रंगी हैं और उन्हीं सिद्धांतों को पुष्ट करने वाली है जिनका परिचय कबीर और मीरां ने कराया है—आंतरिक प्रेम की वही मस्ती, संसार की चीजों से वही खिंचाव, धर्म के नाम पर चलाई गई रूढ़ियों के प्रति वही ताड़ना, बाह्य रूपान्तरों में उसी एक मालिक की खोज और बाहर से अपनी शक्तियों को खींचकर उसे अन्तर्मुखी करने में ही ईश्वर के समीप पहुंचने का उपाय है।”<sup>15</sup>

वास्तव में जैन साधुओं, यतियों, आचार्यों के चिन्तन में समयानुरूप<sup>16</sup> और विज्ञान का समन्वय है। 18वीं शताब्दी से आरंभ हुए तेरापंथ के नवम आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से अणु एवं विराट् का समन्वय किया है। यह वह आन्दोलन है जिसमें जाति, सम्प्रदाय, वर्ग, भाषा-भेद से ऊपर उठकर मनुष्य में मानवता को जागृत करने की क्षमता है। जैन सम्प्रदाय का पर्व पर्युषण इसी भाव की व्यापक अभिव्यक्ति है। मानव में समभाव का वह प्रतीक है। नेहरूजी द्वारा संस्थापित पंचशील के सिद्धांत में निहित अहिंसा तथा सह-अस्तित्व की भावना हमारे सनातन और श्रमण संस्कृति के सोच का ही समन्वय है। इस प्रकार श्रमण-विचारधारा भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्तंभ है। सम्प्रदाय विशेष अथवा परम्परा विशेष में दीक्षित होकर भी जैन रचनाकारों ने समरसता एवं एकता का दर्शन दिया है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना प्रदान की है।

जैन संत रचनाकार देशकाल एवं तत्संबंधी परिस्थितियों के प्रति पूर्णतः जागरूक रहे हैं। वे आध्यात्मिक परम्परा के अनुगामी तथा आत्मलक्षी संस्कृति में विश्वास रखते हुए भी लौकिक चेतना से विमुख नहीं रहे, क्योंकि इनका अध्यात्मवाद वैयक्तिक होते हुए भी जनकल्याण की भावना लिये हुए है। साथ ही सम्प्रदायमूलक साहित्य के सर्जन के उपरान्त भी इन कवियों ने अपनी रचनाओं में देश-काल से संबंधित और सांस्कृतिक पक्षों का निरूपण किया जिसमें अपने देश-प्रदेश की सांस्कृतिक परम्पराओं एवं उसकी उदारता, समता, एकता तथा समन्वयाधिकारिता का अच्छा चित्रण किया है। उदाहरणार्थ, 5वीं शताब्दी के कवि समयसुंदर ने अपनी रचना ‘पुष्पसार चौपड़’ में स्पष्ट किया है कि उस समय भी माता-पिता अपनी पुत्री का विवाह उसकी इच्छा के विपरीत नहीं कर सकते थे। अपने पिता द्वारा सगाई तय कर देने की बात सुनकर रत्नावती अग्रि में जलने को तत्पर हो जाती है—

सुणज्ये तात समाज, बोलइ रतनवती वचन,  
पावक पड़ू ससि प्राण, पुष्पसार परणण वात ॥  
तेडी तात नई तुरत कहइ इते, मन मान्यो मुझे खंताजी,  
परणावइ गुण सुंदर परमइ, खरी अछत माणखंत,  
सेठइ जाण्यो भाव सुत्ता को तुरत गयो तस पास जी ॥

इसी भांति जिनचंद्र सूरि अकबर प्रतिबोधक रास एवं युगप्रधान निर्वाण रास से यह ऐतिहासिक तथ्य भी स्पष्ट होते हैं कि वि.सं. 1648 में सम्राट अकबर के आमंत्रण पर जिनचंद्र सूरि उनसे मिले। अकबर युगप्रधान जिनचन्द्र की विद्वत्ता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने (अकबर ने) जीव हिंसा निषेध के फरमान जारी किये।<sup>17</sup> ऐसे ही एक अन्य ऐतिहासिक सूत्र का परिचय हमें कालू यशोविलास के दूसरे अध्याय में मिलता है, जहां कवि आचार्य तुलसी ने जर्मन विद्वान् हर्मन जैकोबी का साक्षात्कार लाडनू में वि.सं. 1970 की फाल्गुन शुक्ला 10 को होने का उल्लेख किया है।<sup>18</sup>

जैन संत रचनाकारों ने अपनी लोक प्रचलित ढालों के साथ ही शास्त्रीय रागों और छंदबंधों से भी अपने साहित्य को नवीनता एवं सहजता प्रदान की है। हीयान्द्री, संधि, टब्बा, बालावबोध, पीढियावली, पट्टवली, गुरुनामावली आदि जैन साहित्य की भारतीय साहित्य को महत्त्वपूर्ण देन है। इस नवीन देन में जैन कवि बनारसीदास लिखित अर्धकथानक का विशिष्ट महत्त्व है। जीवन-साहित्य के इतिहास में इसे हम पहली और महत्त्वपूर्ण रचना मान सकते हैं।

इस प्रकार जैन साहित्य में औपदेशिक वृत्ति के साथ विषयान्तर से परम्परागत बातों के विस्तृत विवरण से हम परिचित होते हैं, फिर भी इसे हम मात्र पिष्टपेषण अथवा धार्मिक नोटिस मात्र नहीं कह सकते। लोकपक्ष और भाषा की दृष्टि से साहित्य जगत् में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस साहित्य में भारतीय सोच की आदर्श स्थापना है। नैतिक एवं धार्मिक मान्यताओं को जनभाषा में समन्वित कर राष्ट्र के आध्यात्मिक स्तर को पुष्ट करने के उल्लेखनीय प्रयास हैं। देशज भाषा और शैली को अपनाकर इन रचनाकारों ने संपूर्ण समाज को एक सूत्र में जोड़ने का प्रयत्न किया है। यही इस साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि, प्रासंगिकता और गरिमा कही जानी चाहिए।

## संदर्भ :

1. आचार्य महाप्रज्ञ-जैनदर्शन और अनेकान्त, पृ. 78, प्रथम संस्करण 1983
2. वही, पृ. 92-93
3. यद्यपि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी इनकी संख्या के प्रति एकमत नहीं हैं, फिर भी मुख्य रूप से अंग और उपांग नाम से जानी जाने वाली शास्त्रीय रचनाएं इस प्रकार हैं-  
अंग-11-आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिक दशा, प्रश्रव्याकरण, विपाकसूत्र।  
उपांग-औपपातिक, रायपसेणिय, जीवाजीवधिगम, प्रज्ञापना, सूर्य-प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूला, वृष्णिदशा।  
-महेशचन्द्र श्रीवास्तव-जैन धर्म एवं दर्शन (उत्तराध्ययन सूत्र के विशेष आलोक में), पृ. 15-17, प्रथम संस्करण, 1991 ई.

4. वही, पृ. 10
5. डॉ. सियाराम सक्सेना प्रवर-श्री जिनेश्वर विभूति, सेवाधाम प्रकाशन, बिलासपुर (म.प्र.), पृ. 7, संस्करण, 1981 ई.
6. महेशचन्द्र श्रीवास्तव-जैन धर्म एवं दर्शन, पृ. 197
7. आचार्य महाप्रज्ञ-जैनदर्शन और अनेकान्त-आदर्श साहित्य संघ चूरू (राजस्थान), पृ. 37
8. आचार्य महाप्रज्ञ-जैन तत्त्व चिंतन-आदर्श साहित्य संघ चूरू (राजस्थान), पृ. 29-30, संस्करण 1959
10. हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 6, संस्करण 1969 ई., पृ. 171
11. आनंदघन पद संग्रह, पद 27, पृ. 74
12. सं. मोहनलाल दुलीचंद देसाई-आनंदकाव्य महोदधि मौलिक 7-जीवनचंद सकरचंद जवेरी, सूरत (1926 ई.)-पंडित समयसुंदर, चौ. 2, पृ. 100
13. सं. अगरचंद, भंवरलाल नाहटा-ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, श्री पूज्यवर्ण गीतम, पृ. 116-117, छंद 61-67
14. तथर कथ-आदर्श साहित्य संघ, चूरू, पृ. 26
15. भजन संग्रह-धर्माभूत, प्रस्तावना, पृ. 18
16. मध्यकालीन जैन साहित्य में तत्कालीन लोकमानस की चेतना के कारण निजंधरी कार्यकलापों का वर्णन हुआ है। किंतु आज के साहित्य में तर्क संगति का पूर्ण समावेश है।
17. सं. नारायसिंह भाठी-परम्परा, भाग 48 (1978 ई.)-राजस्थानी जैन साहित्य में ऐतिहासिक सामग्री, पृ. 58
18. कालूयशोविलास-आदर्श साहित्य संघ, चूरू, पृ. 65-66

(राजस्थानी विभाग)

जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय  
के-8, सेक्टर 5, एस.सी. बोस कॉलोनी,  
डिफेंस लेब. रोड़,  
रातानाडा, जोधपुर (राजस्थान)



# ज्योतिष-विद्या को जैनाचार्यों का अवदान

— मनोज कुमार श्रीमाल

सृष्टि का आद्योपान्त कारण परमाणु है। मनुष्य का शरीर असंख्य परमाणुओं का सम्मिलित स्वरूप है, अतः सौरमण्डल में भ्रमण करने वाले सूर्यचन्द्रादि ग्रहों की गतिविधियों का प्रभाव अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होने के कारण मानव शरीर स्थित सौर जगत् पर भी पड़ता है। फलस्वरूप पृथ्वी पर रहने वाले सभी प्राणियों पर आकाश में भ्रमण करने वाले ग्रहों का पूर्ण रूपेण प्रभाव पड़ता है। सहस्रों वर्ष पूर्व भारतीय विद्वानों ने अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा द्वारा शरीरस्थ सौरमण्डल का भली-भांति पर्यवेक्षण करके तदनु रूप आकाशीय सौरमण्डल की व्यवस्था की थी। साथ ही आकाशीय ग्रहों के मानव-शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव का भी अन्वेषण किया था। इसी विद्या को ज्योतिष विद्या के नाम से अभिहित किया गया। इस विद्या के विभिन्न अंगों को विकसित करने में अनेक विद्वानों ने अपना योगदान दिया।

भारतीय विज्ञान की उन्नति में जैनधर्मानुयायी आचार्यों ने अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। जैन धर्म अपना गौरवपूर्ण इतिहास रखता है तथा इसके विपुल साहित्य का भी अपना ही महत्त्व है। इसके आगमिक साहित्य में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वों के साथ-साथ वैज्ञानिक तथ्य भी समाविष्ट हैं। ज्योतिष-शास्त्र का आलोड़न करने पर ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों द्वारा निर्मित ज्योतिष ग्रन्थों से भारतीय ज्योतिष में अनेक नवीन तथ्यों का समावेश तथा प्राचीन सिद्धान्तों में परिमार्जन हुआ है। भारतीय परम्परानुकूल जैन धार्मिक ग्रन्थों में एतद् विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। जैन मुनियों द्वारा शिक्षा के चौदह आवश्यक अंगों में सांख्यान (अंकगणित) एवं ज्योतिष को प्रमुख स्थान दिया है तथा 72 विज्ञानों एवं कलाओं में ज्योतिष को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है।

परवर्ती जैन मुनियों द्वारा ज्योतिष पर स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की गयी है, पर विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हो सका, जितना कि उनके आगमिक साहित्य की ओर। फलस्वरूप कुछ ग्रन्थ तो कालकवलित हो गये और कुछ बच पाये तो वे

भी विभिन्न ग्रन्थागारों में उपेक्षित पड़े हुए हैं। कुछ समय से विद्वानों की दृष्टि इन ग्रन्थों के अध्ययन और अन्वेषण की ओर गयी है, जिससे एतद् विषयक अनेक जानकारी प्रकाश में आ सकी है। जैन-ज्योतिषाचार्यों द्वारा रचित ज्योतिष सम्बन्धी रचनाओं की क्रमबद्ध सूची का भी अत्यन्त अभाव है। विभिन्न सूत्रों से उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर इन ग्रंथों का कालक्रमानुसार संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना इस शोध निबन्ध का अभोष्ट है।

जैन आगमिक साहित्य का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इन ग्रंथों में अनेकानेक ज्योतिषीय सिद्धान्त सन्निहित हैं। स्थानांग, प्रश्रव्याकरणांग, समवायांग, सूत्र कृतांग आदि द्वादशांग साहित्य (500 ई.पू.) में नवग्रहों, नक्षत्र, राशि, युग, दक्षिणायन एवं उत्तरायण, सूर्य-चन्द्र ग्रहण आदि बातों का वृहद् विवेचन उपलब्ध होता है।

सूर्य-प्रज्ञप्ति, चन्द्र-प्रज्ञप्ति एवं जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति प्राचीन ज्योतिष के प्रामाणिक एवं मौलिक ग्रंथ माने जाते हैं। इनका रचनाकाल लगभग 500 ई.पू. माना जाता है। प्राकृत भाषा में रचे गये इन ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में ज्योतिष्करण्डक एवं गर्ग संहिता के नाम भी स्वीकार किये जाते हैं।

सूर्य-प्रज्ञप्ति पर टीका एवं भद्रबाहु-संहिता के प्रणेता जैनाचार्य एवं अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु माने जाते हैं। इनका समय 318 ई.पू. माना जाता है। विद्वद् वर्ग की मान्यतानुसार भद्रबाहु मगध के निवासी थे तथा कालान्तर से मैसूर के श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर बस गये। श्वेताम्बर परम्परानुसार इसी नाम से एक दूसरे विद्वान् 5वीं शती में हुए, जो कि प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर के अनुज समझे जाते हैं तथा जिन्होंने वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता की तरह ही भद्रबाहु-संहिता नामक एक अनुपम ज्योतिष ग्रंथ की रचना की। ऐसी मान्यता है कि यह ग्रंथ संस्कृत एवं प्राकृत दोनों ही भाषाओं में रचा गया। पर वर्तमान में संस्कृत में लिखित कतिपय भाग ही उपलब्ध हैं। मान्यतानुसार द्वितीय भद्रबाहु को जन्म-प्रदीप नामक एक अन्य ज्योतिष ग्रंथ की रचना का श्रेय भी जाता है।

प्राचीन काल से ही अंग-विज्जा नामक ज्योतिष ग्रन्थ लोकप्रिय रहा है। प्राकृत में लिखा सामुद्रिक शास्त्र से सम्बन्धित यह एक अद्वितीय एवं विशाल ग्रंथ है। इसमें 60 अध्याय एवं 9 हजार श्लोक प्रमाण हैं। मनुष्य की शारीरिक रचना एवं उसके अंगों के आधार पर इस ग्रन्थ में फलादेश दिया गया है तथा सभी तरह के प्रश्नों के सटीक उत्तर दिये जाने के नियमों का निरूपण किया गया है। अज्ञातकर्तृक इस ग्रन्थ का प्रणयन भाषा एवं शैली की दृष्टि से अनुमानतः तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दी माना जा सकता है।

अन्य जैन ज्योतिर्विदों में आचार्य ऋषिपुत्र का नाम प्रसिद्ध है जो कि आचार्य गर्ग के पुत्र माने जाते हैं तथा इनका समय आर्यभट्ट प्रथम (476 ई.) से पूर्व समझा जाता है। इनके द्वारा रचे गये ग्रंथों में फलित ज्योतिष पर प्रथम शुकुनशास्त्र से सम्बन्धित निमित्त शास्त्र तथा द्वितीय संहिता ग्रन्थ है। वर्तमान उपलब्ध निमित्त शास्त्र में वर्षोत्पात, देवोत्पात, उल्कोत्पात, रजोत्पात आदि अनेक उत्पातों द्वारा शुभाशुभत्व का निर्णय लिया गया है। माना जाता है कि इनका संहिता-ग्रंथ सम्भवतः भारत वर्ष में एतद्विषयक सर्वप्रथम ग्रंथ है और इसलिये महत्त्वपूर्ण है। मदनरत्न एवं वराहमिहिर की वृहत्संहिता पर भट्टोत्पल की लिखी टीका आदि



परवर्ती ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि वराहमिहिर की रचनाओं पर भी इस ग्रन्थ के प्रभाव पड़े होंगे।<sup>3</sup>

कालकाचार्य ने ज्योतिष सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की परम्परा प्रारम्भ की। मध्यप्रदेश के धारावास के राजा वैरसिंह के वे पुत्र थे। उनकी माता का नाम सुरसुन्दरी था तथा बहन का नाम सरस्वती था। वे निमित्त शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। निमित्त शास्त्र एवं संहिता-ग्रंथ की रचना का उन्होंने परवर्ती विद्वानों के लिये पथ-प्रदर्शन का कार्य किया। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ बृहत्जातक में कालक-संहिता को उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने संहिता-ग्रंथ की रचना की। उनके अन्य ग्रंथों—निशीथचूर्ण एवं आवश्यकचूर्ण से ऐसा अनुमान किया जाता है कि वे तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दी के एक जैन ज्योतिर्विद् थे।<sup>4</sup>

प्रश्नशास्त्र जैन-ज्योतिष का एक प्रमुख अंग है। चतुर्थ एवं पंचम शताब्दी में जैनाचार्यों द्वारा इससे सम्बन्धित अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया गया। अर्हचूडामणिसार भी एतद् विषयक एक महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रंथ है जो परवर्ती जैन विद्वानों के लिए प्रेरणास्रोत है। विद्वानों का अनुमान है कि इसकी रचना भद्रबाहु द्वारा की गयी है।

प्रश्न शास्त्र पर एक अन्य ग्रंथ केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि भी उपलब्ध होता है। इस ग्रंथ में बहु उपयोगी प्रश्नों के आधार पर फलोक्त कथन किया गया है। इसका सम्पादन एवं अनुवादन नेमीचन्द्र शास्त्री द्वारा किया गया है।<sup>5</sup>

हरिभद्र सूरि (750 ई.पू.) राजस्थान के निवासी थे तथा याकिनी महत्तर नामक एक जैन साध्वी के शिष्य थे। चितौर-दरबार में सम्भवतः वे राजपंडित थे। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने दर्शन, धर्म, न्याय, ज्योतिष विषयक विभिन्न शाखाओं पर लगभग 1440 ग्रंथों की रचना की। इनमें से लगभग 100 ग्रंथों का प्रकाशन विभिन्न संस्थाओं द्वारा किया गया है। उनकी दो रचनाओं लघुसंघयणी एवं आर्यरक्षित प्रणीत अनुयोगद्वार पर लिखी उनकी टीका में अनेक ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन पाया जाता है।<sup>6</sup>

जलौर के उद्योतनसूरि ने प्राकृत में कुवलयमाला नामक एक ज्योतिष ग्रंथ की रचना 777 ई. (शक 699) में की, जिसमें फलित ज्योतिष तथा सामुद्रिक शास्त्र संबंधी सिद्धान्तों एवं फलादेशों का निरूपण किया गया है।<sup>7</sup>

प्रश्न शास्त्र से सम्बन्धित अन्य ग्रंथों में चन्द्रोन्मीलन एक प्रमुख ग्रंथ है, जिसकी रचना का समय 8वीं शताब्दी में माना जाता है। अज्ञातकृर्तक इस ग्रंथ का विषयवस्तु की प्राचीनता के आधार पर केरल प्रश्न-शास्त्र की परम्परा का श्रीगणेश इसी ग्रंथ से हुआ माना जाता है।<sup>8</sup>

महावीराचार्य एक प्रसिद्ध जैन गणितज्ञ हुये थे। इनका समय लगभग 850 ई. माना जाता है। ये राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष नृपतुंग के दरबार में उच्च पद पर आसीन थे। इनका राज्यकाल दक्षिण भारत के मान्यखेत पर 815 ई. से 877 ई. तक माना जाता है। इनके द्वारा गणित एवं ज्योतिष सम्बन्धी तीन ग्रंथों के लेखन का उल्लेख प्राप्त होता है। गणित सार-संग्रह, ज्योतिष-पटल एवं षट्त्रिंशिका। 9 अध्यायों में रचित गणित सार-संग्रह में अंकगणित, बीजगणित आदि सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन है। शून्य द्वारा विभाजन एवं गुणोत्तर श्रेणी

सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण सम्भवतः इसी ग्रन्थ में किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे पूर्व ज्योतिष-ग्रंथ में ही गणित सम्बन्धी सिद्धान्तों के लिये एक या दो अध्याय अलग से दे देने की परम्परा थी पर भारतवर्ष में सर्वप्रथम सर्वांगपूर्ण गणित ग्रंथ यही है। इस ग्रंथ के महत्त्व को ध्यान में रखकर ही इसके अब तक दो प्रकाशन हो चुके हैं। प्रथम मद्रास से प्रो. एम. रंगाचार्य के सम्पादकत्व में तथा प्रो. लक्ष्मीचन्द के सम्पादकत्व में। महावीराचार्य का अन्य ग्रन्थ ज्योतिष पटल है जो कि ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जो अभी तक अप्रकाशित ही है।<sup>9</sup>

संहिता विषयक 4000 श्लोक प्रमाण केवलज्ञानहोरा के रचयिता जैनाचार्य चन्द्रसेन हैं। इस ग्रन्थ का समय ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। पर यह प्रायः निश्चित सा है कि कल्याण वर्मा (6ठी शताब्दी) की कृति सारावली के पश्चात् ही इसका प्रणयन हुआ है। इसमें यत्र-तत्र कन्नड़ भाषा का भी प्रयोग हुआ है, जिससे अनुमान किया जाता है कि कर्नाटक में तात्कालीन प्रचलित ज्योतिष सिद्धान्तों से ग्रंथकार विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं।<sup>10</sup>

जैन ज्योतिषाचार्य श्रीधर (लगभग 10वीं शताब्दी) कर्नाटक प्रान्त के निवासी थे। उनके पिता का नाम बलदेव शर्मा था तथा माता का नाम अब्बोका। उनके ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में वे शैव थे परन्तु बाद में जैन धर्मावलम्बी हो गये, वे ज्योतिषज्ञान विधि एवं जातक तिलक नामक दो ज्योतिष ग्रन्थों के प्रणेता माने जाते हैं। जातक तिलक की रचना कन्नड़ भाषा में की गई है तथा शेष ग्रंथों की रचना संस्कृत में।<sup>11</sup>

दसवीं शताब्दी में ही आचार्य दाननन्दि के प्रमुख शिष्य भट्ठोसरि ने प्रश्न शास्त्र पर आयज्ञानतिलक नामक एक विस्तृत ग्रंथ लिखा। प्राकृत भाषा में रचित प्रश्न शास्त्र सम्बन्धी यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध रचना समझी जाती है।<sup>12</sup>

दिगम्बर जैनाचार्य दुर्गदेव (11वीं शती) ज्योतिष शास्त्र के महान विद्वान् थे। उनके गुरु संयमदेव थे। प्राकृत भाषा में उन्होंने प्रश्न शास्त्र एवं शकुन शास्त्र पर क्रमशः अर्धकाण्ड एवं रिठसमुच्चय नामक दो ग्रंथ लिखे, जिनमें से दूसरे ग्रंथ की रचना 1032 ई. में उन्होंने कुम्भनगर (अनंगा) में की थी।<sup>13</sup>

मल्लिसेण संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं के उद्भट विद्वान् थे। जिनसेन सूरि उनके पिता थे जो दक्षिण भारत के धारवाड़ जिले के गदकतालुका नामक स्थान के निवासी थे। 1043 ई. में आयसद्भाव नामक एक फलित ज्योतिष ग्रंथ की उन्होंने रचना की, जिसमें सिंह, गदहा, हाथी, कौआ आदि अनेक पशु-पक्षियों के वर्णन के साथ-साथ मानव जीवन पर उनके पड़ने वाले प्रभावों का भी उल्लेख किया गया है। इस ग्रंथ से यह भी ज्ञान होता है कि सुग्रीव आदि अनेक पूर्ववर्ती विद्वानों ने भी इस विषय पर ग्रंथ लिखे हैं।<sup>14</sup>

श्वेताम्बर परम्परा के जैनाचार्य मलयगिरि (11वीं शती) ने सूर्य-पण्णत्ति, जम्बूद्वीप-पण्णत्ति, चन्द्र-पण्णत्ति, ज्योतिष्करण्डक, वृहत्क्षेत्रसमास, वृहत्संग्रहाणि आदि प्राचीन ग्रंथों पर टीकाएँ लिखी, जिसमें अनेक ज्योतिषीय सिद्धान्तों की मीमांसा की गई है।

नरपति 12वीं शती के एक जैनाचार्य थे, जिनके पिता का नाम आभ्रदेव था तथा जो दक्षिण भारत के धार नामक स्थान के निवासी थे। 1175 ई. (वि.सं. 1232) में उन्होंने

अह्नपटन में शकुन शास्त्र सम्बन्धी नरपति जय चर्या अथवा नरपतिजय वर्णन नामक ग्रंथ की रचना की। इसका अन्य नाम स्वरोदय अथवा सारोधार भी है। इसमें व्यक्ति के स्वर के आधार पर शुभाशुभ परिणामों का विवेचन किया गया है। यह भी माना जाता है कि उन्होंने ज्योतिष से सम्बन्धित ज्योतिष कल्पवृक्ष नामक एक अन्य ग्रंथ की रचना की, पर उसकी पांडुलिपि अभी अनुपलब्ध है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि हरिवंश, नरहरि, भूधर, रामनाथ प्रभृति विद्वानों द्वारा इस ग्रंथ पर विभिन्न युगों में अनेकानेक टीकाएँ लिखी गयी है।<sup>15</sup>

जैनाचार्य उदयप्रभदेव (1220 ई.) विजयसेन सूरि के शिष्य माने जाते हैं। उन्होंने आरम्भ सिद्धि अथवा व्यवहारचर्या नामक एक अनुपम ज्योतिष ग्रंथ की रचना की, जिस पर रत्नेश्वरसूरि के शिष्य हेमहंस गणि ने 1457 ई. (वि.सं. 1514) में एक टीका लिखी। यह एक मुहूर्त्त ग्रंथ है, जिसमें धार्मिक कार्यों एवं उत्सवों के लिये उपयुक्त समय की गणना एवं तत्संबंधी अन्य बातों का विस्तार से विवेचन किया गया है। यह एक अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ है।<sup>16</sup>

जैन ज्योतिषाचार्य पद्मप्रभसूरि, वामदेवसूरि के शिष्य थे। इन्होंने संस्कृत में भुवन-दीपक नामक एक ज्योतिष ग्रंथ की रचना 1237 ई. (वि.सं. 1294 में) की। प्रश्न शास्त्र से सम्बद्ध यह एक छोटी परन्तु अनुपम कृति है। जिसमें 170 श्लोकों में एतद्विषयक महत्त्वपूर्ण जानकारी संकलित हैं। 1269 ई. में सिंह तिलकसूरि द्वारा इस पर विवृत्ति नामक एक टीका भी लिखी गयी।<sup>17</sup>

उत्कुर फेरू जैन ज्योतिष के प्रसिद्ध विद्वान् हुये, जिनका समय 1265-1330 ई. माना जाता है। ये दिल्ली के सुल्तानों के दरबार में विशिष्ट पद पर आसीन थे। विभिन्न वैज्ञानिक एवं तकनीकी विषयों से सम्बद्ध प्राकृत भाषा में उन्होंने 6 पुस्तकों की रचना की, जिनके नाम-वास्तुसार, ज्योतिष-सार, गणितसार, रत्न-परीक्षा, धातु पट्टी एवं द्रव्य-परीक्षा हैं। ज्योतिष-सार जातक विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।<sup>18</sup>

नरचन्द्र उपाध्याय कासद्रुहगच्छ के सिंहसूरि के शिष्य थे। बेड़ाजातकवृत्ति, प्रश्नशतक, प्रश्नचतुर्विंशतिका, जन्मसमुद्र सटीक, लग्न विचार एवं ज्योति-प्रकाश आदि अनेक गणितीय एवं ज्योतिष सम्बन्धी ग्रंथों के वे प्रणेता थे। मान्यतानुसार ये सभी ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। 1050 श्लोकों में निबद्ध बेड़ाजातक वृत्ति एक उपयोगी जातक ग्रंथ है जिसकी रचना 1267 ई. (वि.सं. 1324) में की गयी। ज्योतिप्रकाश भी फलित ज्योतिष का एक अनुपम ग्रंथ है, जिसमें मुहूर्त्त एवं संहिता विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। दिगम्बर जैन परम्परानुसार नारचन्द्र नामक ज्योतिष ग्रंथ के भी वे रचयिता माने जाते हैं। मान्यतानुसार इन्होंने ज्ञानदीपिका नामक ग्रंथ की रचना की जिसकी पांडुलिपि वर्तमान में अप्राप्त है।<sup>19</sup>

भृगुफर के मदनसूरि के शिष्य जैन ज्योतिषाचार्य महेन्द्रसूरि फिरोज शाह तुगलक के दरबार में प्रधान पंडित थे। उन्होंने 1270 ई. में ग्रह गणित से सम्बन्धित 5 अध्यायों में यन्त्रराज नामक एक पुस्तक की रचना की, जिसमें गणितीय गणना एवं ग्रहवेध के आधार पर सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है। ज्योतिष के विभिन्न सिद्धान्तों के साथ-साथ इसमें पंचांग-निर्माण सम्बन्धी विधियों का प्रतिपादन किया गया है। उनके शिष्य मलयेन्दु सूरि ने इस पर टीका लिखी जिसमें सिद्धान्तों की व्याख्या को स्पष्ट करने के लिए अनेक उद्धरणों से मण्डित किया गया है।<sup>20</sup>

अट्टकवि (अर्हद्दास) तेरहवीं शताब्दी के ही एक जैन ब्राह्मण थे, जिनके पिता का नाम नागकुमार था। वे कन्नड़ भाषा के प्रकांड विद्वान् थे। इसी भाषा में उन्होंने अट्टम नामक एक महत्त्वपूर्ण ज्योतिष-ग्रंथ का निर्माण किया, जिसमें शकुन, ध्वनि-विचार, नक्षत्र-फल आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसका अनुवाद तेलगू भाषा में आन्ध्रप्रदेश के भास्कर नामक विद्वान् ने 15वीं शताब्दी में किया।<sup>21</sup>

महिमोदय (17वीं शती) जो कि लब्धिविजयसूरि के शिष्य थे, ज्योतिष के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने तीन ग्रंथों की रचना की, जिनके नाम क्रमशः ज्योतिष-रत्नाकर, गणित साठ सौर अर्थात् गणित-सार-सौष्ठभ तथा पंचांगानयन विधि है। ज्योतिष-रत्नाकर में मुहूर्त्त, जातक एवं संहिता सम्बन्धी विषयों का उल्लेख है तथा पंचांगानयन विधि में पंचांग-निर्माण सम्बन्धी अनेक सारणियाँ प्रस्तुत की गयी हैं।<sup>22</sup>

मेघविजयगणि नामक प्रकाण्ड ज्योतिर्विद का जैन ज्योतिष के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। इनका समय 1680 ई. माना जाता है। इन्होंने मेघ-महोदय, उदय-दीपिका, रमल शास्त्र, हस्त संजीवन आदि संहिता एवं सामुद्रिक शास्त्र विषयक अनेक एवं अनुपम ग्रंथों की रचना की है।<sup>23</sup>

लब्धिचन्द्रगणि खरतरगच्छीय कल्याण निधान के शिष्य थे। उन्होंने 1684 ई. (वि.सं. 1751) में जन्मपत्री पद्धति नामक एक व्यवहारोपयोगी ज्योतिष-ग्रंथ की रचना की, जिसमें जन्मपत्री के सामान्य नियमों के साथ-साथ गणित के विषयों का भी वर्णन किया है।<sup>24</sup>

बाघजीमुनि (1726 ई.) पार्श्वचन्द्रगच्छीय परम्परा के एक प्रमुख जैनाचार्य हैं। इन्होंने तिथि सारणी नामक एक ज्योतिष-ग्रंथ लिखा है। पंचांग-निर्माण की विभिन्न विधियों की इसमें मीमांसा की गयी है। मकरन्द (14वीं शती) की मकरन्द सारणी की तरह यह ग्रंथ भी विशेष महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय रहा है। यह भी समझा जाता है कि बाघजी मुनि द्वारा इसके अतिरिक्त मुहूर्त्त सम्बन्धी दो-तीन और ग्रंथों की रचना की गयी, पर उनकी पांडुलिपियाँ वर्तमान में अनुपलब्ध हैं।<sup>25</sup>

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्योतिष वाङ्मय में जैनाचार्यों का विशिष्ट अवदान है। जैनाचार्यों ने स्वतन्त्र रूप से अपनी लेखनी का प्रयोग इस शास्त्र में किया है। जैन आगमों में यत्र-तत्र अनेक ज्योतिषीय सिद्धान्त न्यूनाधिक रूप से सन्निहित तो हैं ही, एतद् विषयक अनेक ग्रन्थ तीसरी एवं चौथी शताब्दी में रचे गये व यह क्रम अनवरत रूप से पुष्पित व पल्लवित होता रहा है। जैनाचार्यों ने ज्योतिष शास्त्र विषयक विपुल साहित्य का सृजन किया जो कि भारतीय प्राचीन ज्योतिष के विकास क्रम को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन खेद का विषय है कि जैन ज्योतिषाचार्यों की अनेक ज्योतिष कृतियाँ या तो अनुपलब्ध हैं या फिर इसका अधिकांश भाग अप्रकाशित एवं उपेक्षित हैं। यद्यपि अनेक विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है, फिर भी इस दिशा में विशेष रूप से अन्वेषण की आवश्यकता है। अनेक ग्रन्थागारों में एतद् विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। हमें उन्हें धूलधूसरित एवं काल का ग्रास होने से बचाना होगा, तभी हमारे द्वारा जैन ज्योतिषाचार्यों के अनमोल व विशिष्ट अवदान का मूल्यांकन किया जा सकेगा।

सन्दर्भ —

1. भद्रबाहु संहिता, सं. व अनु. — नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 52-63
2. भारतीय ज्योतिष, नेमिचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ 84, 1999, अंगविज्जा, मुनि पुण्यविजयजी, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, वि.सं. 2054, पृ. 57
3. भारतीय ज्योतिष, नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 82-83
4. वही, पृ. 86-87
5. केवलज्ञान प्रश्न चूड़ामणि, सं. व अनु. — नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 39-35
6. लक्ष्मीचन्द्र जैन, तिलोयपण्णत्ति का गणित, सोलापुर, पृ. 141
7. कुवलयमाला, उद्योतनसूरिकृत, सं. — आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, भारतीय विद्या भवन, 1970
8. भारतीय ज्योतिष, नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 92
9. आर.सी. गुप्ता, महावीराचार्य, मैथेमैटिक्स एजुकेशन, खण्ड-8, नं.-1, बी-1974, पृ. 17
10. भारतीय ज्योतिष, पृ. 98
11. वही, पृ. 98-99
12. वही, पृ. 99
13. वही, पृ. 104
14. वही, पृ. 105
15. शंकर बालकृष्णदीक्षित, भारतीय ज्योतिष, लखनऊ, 1963, पृ. 624
16. भारतीय ज्योतिष, नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 105
17. भुवनदीपक, पद्मप्रभसूरिकृत, व्यां. — डॉ. कामेश्वर उपाध्याय, वाराणसी, पृ. 14
18. एस.आर. शर्मा द्वारा प्रस्तुत निबंध 'ठक्करफेरू' जैन गणित पर अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार, हस्तिनापुर, 26-28, अप्रैल, 1985
19. भारतीय ज्योतिष, नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 107
20. वही, पृ. 108
21. वही, पृ. 108
22. वही, पृ. 113
23. हस्त संजीवन, मेघविजयगणिकृत, अ. व सं.डॉ. सुरेशचन्द्र मिश्र, भारतीय ज्योतिष, नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 114
24. भारतीय ज्योतिष, नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 114
25. वही, पृ. 114

शोध छात्र

प्राकृत एवं जैन आगम विभाग

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ (राजस्थान)

# Ācārāṅga-Bhāṣyam

— Ācārya Mahāprajña

## Chapter-I

### Comprehension and Abandonment of Weapon of Injury

#### Section-3

1.35 *se bemi- se jahāvi aṅgāre ujjukade, nīyāgapadivāṇṇe, amāyam kuvvamāṇe viyāhie.*

Likewise also, the ascetic (desisting from violent action to the water-bodied beings) is straightforward, treader on the path to liberation, not a deceitful concealer of his power of self-restraint. Thus do I say.

#### Bhāṣyam Sūtra 35

In this chapter, there is a minute discussion of the nature of *ahimsā* observed by a person who has renounced the world, which clearly explains character of a houseless mendicant. Who is a true mendicant? In answer, the Sūtra says: the true mendicant is he, who while desisting from inflicting injury to the earth-bodied beings, also desists from injury to the water-bodied beings. This is indicated by the particle *āalso* in the Sūtra.

Straightforwardness<sup>ā</sup> means self-restraint. The aspirant who observes self-restraint, pursues the path to liberation and does not possess the thorn of deceit is called a mendicant. The implication is that only the person who has faith in restraint in respect of all living beings and emancipation and who does not hide his power to practice the discipline is capable of making a resolve to practice *ahimsā* towards subtle (imperceptible) living beings.<sup>1</sup>

1.36 *jāe saddhāe ṅikkhamto, tameva aṅupāliyā vijahittu visottiyam.*

He (the ascetic) should follow immaculately the same faith with which he renounced the world, not flowing in the stream of mental fickleness (about the reality of water-bodied beings).

### Bhāṣyaṃ Sūtra 36

It is indeed very difficult to abstain from injury to the water-bodied beings. The Sūtra, keeping this truth in view, asserts that one should follow immaculately the same faith with which he renounced the world.

The implication is: at the time of initiation the asceticâs faith is on the increase. He should maintain this state of faith for all times, not allowing it to wane in anyway. If the increase is constant, that is well and good, but any sort of lapse in faith is not commendable. Even if there is no enhancement, let there be no loss of the original faith.

Metal ficklenessâ is doubtful mind. In the path of *ahimsâ*, varieties of doubts<sup>2</sup>, and bad types of mental concentration due to anguish and anger may arise, which lead to the diminution of the faith. The progress of faith mainly consists in the avoiding such doubts and unmindfulness.

1.37 *paṇayā vīrā mahāvīhim.*

The heroes are dedicated to the great path of liberation.

### Bhāṣyaṃ Sūtra 37

*Ahimsâ* is the spacious path. Ordinary people do not follow that path. Only the mighty heroes can dedicate themselves to that spacious path.

The implication is that non-violence is not the way of the coward. Only the brave can tread that path.<sup>3</sup>

1.38 *logaṃ ca āṇāe abhisameccā akutobhayam.*

Properly understanding the nature of the world (of water-bodied beings) according to the commandment of the *Jīna*, one should make that world completely fear-free.

### Bhāṣyaṃ Sūtra 38

The water-bodied beings that should be avoided from being injured are not perceptible to human beings. For establishing the existence of the soul in them and for convincing the people who are not capable of direct perception. the Sūtra asserts that there are water-bodied beings. The person, possessed of the power of direct perception, can know them directly. If you cannot know them yourself, you should understand them by means of the counsel of persons who are endowed with the power of direct knowledge. After knowing the truth in this way, you should not induce any kind of fear in those beings.

1.39 *se bemi - neva sayam logam abbhāikkhejjā, neva attānam abbhāikkhejjā je loyam abbhāikkhai, se attānam abbhāikkhai. je attānam abbhāikkhai se loyam abbhāikkhai.*

One should neither deny the world (of water-bodied beings), nor

should one deny oneself. One who denies the world (of water-bodied being), denies himself, and one who denies himself denies the world (of water-bodied beings). Thus do I say.

### Bhāṣyam Sūtra 39

There are water-bodied beings that are too subtle to be perceptible to the naked eye. The Sūtra advises us to know them in comparison to ourselves. One should not deny their existence<sup>4</sup> as one cannot deny the existence of oneself. To the query why one should not deny them, the answer is that their denial would involve the denial of oneself inasmuch as one's soul was subject to birth as water-bodied being infinite times in the past. In other words, the denial of them is evidently the denial of the vicissitudes of oneself.

Asks the disciple: O Lord, it is very difficult to understand the nature of water-bodied beings, because it is said that they neither hear, nor see, nor smell, nor taste, nor are they found to feel pleasure and pain, there is no throb of life in them, no respiration. Why should they be considered as possessed of souls? The reply to this query is provided by the *Ācārāṅga Niryukti*.<sup>5</sup> Just as the body of the elephant embryo at the time of conception, and the watery egg are both sentient liquids, exactly so the water-bodied beings are sentient.<sup>6</sup> This can be syllogized as follows:

**Thesis** - Water-bodied beings are sentient.

**Reason** - Because they are liquid, and not injured by any weapon.

**Concomitance** - Whatever is liquid and not injured by any weapon is necessarily sentient.

**Example** -

- (1) Like the embryo (*kalala*) that is the material cause of the body of the elephant.
- (2) Like the liquid in the egg that has not developed the organs and where the limbs and the like have not grown.

This problem can also be considered from the standpoint of science. The scientists do not admit the production of water in the absence of oxygen. Does not this necessity of oxygen to produce water prove that there is soul in water?

As in case of earth-bodied beings in the Sūtra 28 above, one should elaborate the concept of water-bodied beings under the sixteen items beginning with respiration and ending in psychical colouring.<sup>7</sup>



1.40 *lajjamānā pudho pāsa.*

Look at various self-restrained monks ashamed of their violent activities.

1.41 *aṇagārā motti ege pavayamānā.*

Some people style themselves as homeless mendicants.

1.42 *jamīnaṃ virūvarūvehiṃ satthehiṃ udaya-kamma-samāraṃbheṇaṃ udaya-satthaṃ samāraṃbhamāṇe aṇṇe vaṇegarūve pāṇe vihiṃsati.*

But they indulge in violent actions to water-bodied beings with various weapons which involve destruction of various other classes of living beings.

1.43 *tattha khalu bhagavayā pariṇṇā padveditā.*

On this subject, the Lord has propounded the principle of comprehension and abandonment.

1.44 *imassa ceva jīviyassa, parivaṃḍaṇa-māṇaṇa-pūyaṇāe, jāi-maraṇamoyaṇāe, dukkhaḍḍighāyahevaṃ.*

Longing for survival, praise, reverence and adoration, life and death, emancipation, and elimination of physical and mental suffering.

1.45 *se sayameva udaya-satthaṃ samāraṃbhati, aṇṇehiṃ vā udaya-satthaṃ samāraṃbhāveti; aṇṇe vā udaya-satthaṃ samāraṃbhamṭe samaṇujāṇati.*

He himself indulges in killing the water-bodied beings or instigates others to do so or approves of such killings by others.

1.46 *taṃ se ahiyāe, taṃse abohīe.*

Such violence is for his harm, is for his non-enlightenment.

1.47 *se taṃ saṃbujjhamāṇe, āyāṇīyaṃ samuṭṭhāe.*

He (the ascetic) comprehends the result of violence and applies himself to the practice of self-restraint.

1.48 *soccā khalu bhagavao aṇagārāṇaṃ vā aṃṭie ihamegesim ṇāyaṃ bhavati - esa khalu gamthe, esa khalu mohe, esa khalu māre, esa khalu narae.*

Hearing from the *Jina* or other ascetics, some people come to know: such violence is indeed a knot, is delusion, is death, is hell.

1.49 *iccatthaṃ gadhīe loe.*

Nevertheless, people entrapped in pursuit of pleasure (indulge in violence to water-bodied beings).

1.50 *jamiṇaṃ virūvarūvehiṃ satthehiṃ udaya-kamma-samāraṃbheṇaṃ udaya-satthaṃ samāraṃbhamāṇe aṇṇe vaṇegarūve pāṇe vihimsati.*

They indulge in violent actions to water-bodied beings with various weapons, which involve destruction of various other classes of living beings.

1.51 *se bemi - appege aṃdhamabbhe, appege aṃdhamacche.*  
Thus I say - somebody pierces or cuts the blind (water-bodied beings that have the feeling of intense pain like that of the human beings born blind, deaf, dumb, lame and deficient in other limbs).

1.52 *appege pāyamabhe, appege pāyamacche.*  
Some people pierce and cut foot, ankle, leg etc. (see Sūtra 29 for all the thirty-two limbs of the body).

1.53 *appege sampamārae, appege uddavae.*  
Sometimes a person is beaten to a state of unconsciousness and sometimes tortured to death.

#### Bhāṣyaṃ Sūtra 53

The Sūtra 40 to 53 are to be explained like the Sūtra 17 to 30.

1.54 *se bemi - samṭi pāṇā udaya-nissiyā jīvā anegā.*  
There are many aquatic beings living in water. Thus do I say.

1.55 *ihaṃ ca khalu bho! anagārānaṃ udaya-jīvā viyāhiyā.*  
In this ascetic discipline, O men, water itself has been propounded as a living being.

#### Bhāṣyaṃ Sūtra 54, 55

In those days no other thinker did accept water as a sentient entity. There was of course the opinion that there are living beings in water. This Sūtra clarifies the issue. In the *Jaina* scripture, water itself is propounded a living substance. There are many creatures living in water. But they are not water-bodied beings, being simply the mobile beings born in water. The organisms (accepted by modern science) live in water, but they are not water-bodied beings.<sup>8</sup>

1.56 *satthaṃ cettha āṇuvī pāsā.*  
Minutely visualize the weapons of injury to water-bodied beings.

#### Bhāṣyaṃ Sūtra 56

Look carefully at the weapons that destroy the water-bodied beings, that is, the instruments that kill them. This is for enlightening the mind of the disciple. Asks the disciple: what are those weapons? The reply is contained in the sūtra that follows.

1.57 *puḍho sattham paveiyam.*

That there are varieties of weapons has been propounded (by the Lord).

### Bhāṣyaṃ Sūtra 57

There are many varieties of weapons that kill the water-bodied beings. In the *Niryukti*<sup>9</sup>, those weapons are:

1. Drawing out water from a well by means of a vessel.<sup>10</sup>
2. Straining through a thick smooth piece of cloth.<sup>11</sup>
3. Washing cloth, pot, etc.
4. The river water is the weapon of pond water. (Here the weapon is homogeneous).
5. Earth, soil, alkali, fire, etc., are the weapons of water-bodied beings. (Here the weapon is heterogeneous).
6. Earth mixed with water is the weapon of the water-bodied beings. (Here the weapon is a mixture of homogeneous and heterogeneous instruments of destruction).

The *Cūrṇi* mentions some other varieties of weapons also, such as, change produced in colour, taste, smell and touch.

For instance, water when heated becomes slightly brown in colour, smoky in smell, insipid in taste, and hot in touch. The imperfectly boiled water is not lifeless.

The salty, sweet and sour water are weapons mutually. The foul smelled water is mostly lifeless.

The natural hot water of the Mahātapa spring (the hot spring near Rajgir in Bihar) is by nature animate. When it grows cold, it gives up its nature and becomes inanimate.

Salty, sweet and acid water are mutually weapons. The foul smell is usually inanimate.<sup>12</sup>

In the *Bhagavati Sūtra* there is mention of the growth of fire-bodied beings in this hot spring.<sup>13</sup> But there is no mention of the water becoming inanimate, when it becomes cold.

1.58 *aduvā adiṇṇādāṇam.*

Or, it (viz. the use of live water) is a case of accepting what has not been offered (stealing).

### Bhāṣyaṃ Sūtra 58

In those days, the heretic teachers did not use water, not offered to them. They took the permission of the owner of the water reservoir and

considered sufficient for the observance of the principle of non-stealing. The Jaina monks, however, argued that such permission was inadequate for the use of water, without violating the principle of non-stealing.

The permission, according to them, of the live water was necessary for its killing before use. In the absence of such permission, was not the use of water, that was deprived of its life, a case of accepting what was not offered? The Sūtra expressly advances such arguments by pointing out that such use of water was palpably the case of stealing, and as such, illegitimate.

1.59 *kappaine, pakkaine pāum, aduvā vibhūsāe.*

Some (heretics) asserted: water was allowed to them, water was allowed to them to drink, also to beautify their body.

### Bhāṣyaṃ Sūtra 59

Although some heretical sects like the *Ājīvikas* and others, did not believe in the existence of the water-bodied beings, they had imposed certain restrictions for using water. This is indicated in this Sūtra. The *Ājīvikas* and the *Śaivas* agreed they could use water only to drink and not for any other purpose.

*The Buddhists used water to drink and also to bathe. Beautifyingā stands for washing garments, etc, and also bathing.*

1.60 *pudho satthehiṃ viuttamti.*

They kill water-bodied beings by various weapons.

### Bhāṣyaṃ Sūtra 60

The above mentioned heretics did not accept that is alive and so the principle of not accepting what was not offered was not acceptable to them in the case of using water. They did not consequently abstain from injury to live water. Keeping their doctrine in view, the Sūtra emphasizes that those heretics do not desist from killing water-bodied beings by various weapons. In other words, the heretics indulged in injury to water-bodied beings citing their respective scriptures in support of their contention.

1.61 *etthavi tesim no nīkaraṇāe.*

Even then they cannot absolve themselves (of the responsibility).

### Bhāṣyaṃ Sūtra 61

Even though those heretics admitted that only a limited use of water was allowed to them by their scriptures, they were not able to desist from injury to water-bodied beings, in order to avoid violence to them.

Here the word *nīkaraṇa* (absolving oneself) means denouncing, avoiding, abstaining, reasoning, absence of activity, and so on.<sup>14</sup>

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर — दिसम्बर, 2002  105

1.62 *etha sattham samārambhamāṇassa iccette ārambhā aparinnāyā bhavamti.*

The person thus indulging in acts of violence does neither comprehend, nor abandon them.

1.63 *etha sattham samārambhamāṇassa iccette ārambhā aparinnāyā bhavamti.*

The person not indulging in acts of violence is capable of comprehending and abandoning them.

1.64 *taṃ parinnāya mehāvī neva sayam udaya-sattham samārambhejjā, nevannehiṃ udaya-sattham samārambhāvejjā, udaya-sattham samāram bhamtevi aṇṇe ṇa samuṇajāṇejjā.*

Comprehending this, an intelligent ascetic should not indulge in violence to the water-bodied beings, nor should he instigate others to do so, nor should he approve of such violence committed by others.

1.65 *jassete udaya-sattha-samārambhā parinnāyā bhavamti, se hu muṇī parinnāta-kamme. - tti bemi.*

The ascetic who comprehends and abandons these acts of violence to the water-bodied beings is indeed an ascetic who has fully comprehended and abandoned all acts of violence.

### Bhāṣyam Sūtras 62-65

See 5.31-34

1. The following are the three maxims for achieving the goal:

- (i) Guilelessness in conduct,
- (ii) Devotedness to the goal,
- (iii) Sincerity of efforts.

According to the author of the scripture, above three are the criteria of a monk. Straightforwardness is the fundamental tenet of religion. A crooked man cannot be religious. Religion abides only in a pure soul and only he who is straightforward is pure.

Crookedness is practised by him who wants to twist the truth. On the contrary, one who wants to present the truth without distortion is straightforward in all his activities of body, mind and speech. He would be practising what he preaches. In accordance with this, Bhagavān Mahāvīra has recommended the following four ways of practising truth.

- (a) Guilelessness in bodily expression.
- (b) Straightforwardness of thoughts.
- (c) Ingenuousness of speech.
- (d) Harmony of speech and action.

2. Ācāraṅga Cūrni, p.25, 26: savatīti sottiyaṃ visottiyaṃ davve nadi nikkādisu vā anulomavāhīni sottiyaṃ itarīvisottiyaṃ, bhavato aṇusottam,

nānadamaṣaṇacarittatavavinayasamāhānāmanusottam. tadvivariyam kohādi, aha attaroddajjhāniyā bhāvavisottiyā, ahavā samkā visottiyā, kim āukkāo jīvo na jīvotti?

3. Non-violence is the path to liberation. It is everywhere, eternal and for everyone. That is why it is a Great Path. All those who have been dedicated to it or will be dedicated to it will attain liberation.

The Great Path also means *Kuṇḍalini* (vitality). An enterprising ascetic, for his sublimation, dedicates himself to this stream of vitality and makes it flow towards his brain through his spinal chord. Consequently, his instinct of violence disappears. That conduct which is circumscribed by space and time is a smaller path. Equanimity is not so circumscribed. It can be practised in all space and time. That is why equanimity also is a Great Path.

Equanimity is not a creed. It is Religion in itself. All those who have attained peace have treaded, are treading and will tread this Great Path. And yet it remains as capacious as ever.

4. Logam - lokyamte iti lokah iti vyutpattimanuśritya lokaśabdasya nānāprakaraṇeṣu prayogo dṛśyate, ata eva tasyārthaḥ prakaraṇānusārī kāryah. apkāyaprakareṇe apkāyikajīvalokaḥ, tejaskāyapra kareṇe tejaskāyajīvaloka ityādi.

5. Ācārāṅga Niriyukti, gāthā 110

6. Acārāṅga Niriyukti, gāthā 113.

7. See - Bhāṣyam Sūtra 28

(a) Ācārāṅga Cūrni, p.27: samti vijjamti pāyaso udae savvaloe patitā pūtaragādī tasā vijjamti tadassitā na udagam jīvā sakkānam, annesim navi udagam jīvā, navi assitā jīvā je pūtaragādī, te khittasambhavā, na āukkāyasambhavā.

(b) With respect to the distinction between organisms in water and water embodied beings, there are four combinations:

(a) Animate water-containing beings, which make water their habitat.

(b) Animate water devoid of such beings.

(c) Inanimate water containing of such beings.

(d) Inanimate water devoid of such beings.

9. Ācārāṅga Niriyukti, Gāthā 113.

10-11. It is a subject of research how this process works.

12. Ācārāṅga Cūrni, p.27, 28.

13. Aṅgasuttāni II, Bhagavaī 2.113: tatthaṇam bahave usiṇajoniyā jīvā ya Poggala yaudagattāe vakkamamti viukkamamti cayamti cayamti uvavajjamti.

14. (a) Aṅgasuttāni II, Bhagavaī, 7.150-154, Vṛtti, patra 312.

(b) Compare, Āyāro, 2.153.

□□□

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर—दिसम्बर, 2002  107

## Section - 4

1.66 *se bemi - neva sayam logam abbhāikkhejjā, neva attāṇaṃ abbhāikkhejjā. je logaṃ abbhāikkhai, se attāṇaṃ abbhāikkhai. je attāṇaṃ abbhāikkhai, se logaṃ abbhāikkhai.*

**One should neither deny the world (of fire-bodied beings), nor should one deny oneself. One who denies the world (of fire-bodied beings), denies himself and one who denies himself, denies the world (of fire-bodied beings). Thus do I say.**

### Bhāṣyaṃ Sūtra 66

Here 'world' means the world of fire-bodied beings.<sup>1</sup> Although the fire-bodied beings are not visible on account of their being very subtle, even then the *Niryukti* has adduced some arguments in order to prove their existence.

Even as the corporeal mass of the glow-worm shines as light in the night, exactly so the lighting power in the fire is inferred as originating from a particular transformation in the fire-bodied beings. Even as the heat of fever is not separate from the fevered, exactly so on account of its heat (temperature), fire is also inferred as a variety of living beings.<sup>2</sup>

In the *Vṛtti*<sup>3</sup> also, the following argument is given in favour of fire as a sentient entity. Fire grows on the supply of fuel, and diminishes and extinguishes in the absence of it.

Modern thinkers admit that fire cannot kindle without the intake of oxygen.

The fire-bodied beings are entities distinct from other types of sentient beings, on account of their specific body-determining karma, viz., heat producing and lusture-producing.

The rest is like Sūtra 39.

1.67 *je dīhaloga-satthassa kheyañṇe, se asatthassa kheyañṇe, je asatthassa kheyañṇe, se dīhaloga-satthassa kheyañṇe.*

**One who knows the weapon of (injury to) the world of long-bodied beings (plants), knows the nature of non-weapon (self-restraint). One who knows the non-weapon, knows the weapon of (injury to) the world of long-bodied beings.**

**Bhāṣyam Sūtra 67**

The world of long-bodied beings refers to the vegetation world. It is so called because its body is long in size, and in respect of quantity of its substance it is infinite; the plant is in the world of long-lived beings as it is born repeatedly in a similar body for a long time. This meaning is available in the *Cūrṇī* and *Vṛtti*. But in the *Daśavaikālika*,<sup>4</sup> 'the world of long-bodied beings' stands for all kinds of living beings, namely the earth-bodied and the like. Fire is the weapon of injury to that world. The person who is conversant with this is a knowledgeable person and he alone is conversant with the meaning of non-weapon or self-restraint. The implication is that such person alone can abstain from injury to fire-bodied beings. It can also be said that the person who has the knowledge of self-restraint (and the mode of life that avoids the weapons of injury) is one who comprehends the nature of the weapon injurious to the world of long-bodied beings.<sup>5</sup>

1.68 *vīrehiṃ eyaṃ abhibhūya diṭṭham, samjatehiṃ sayā jatehiṃ sayā appamattehiṃ.*

**By cutting down their veils of knowledge of intuition, the heroes, who are always self-restrained, self-controlled and wakeful have realised the reality of the fire-bodied beings.**

**Bhāṣyam Sūtra 68**

The heroes have directly experienced<sup>6</sup> all these facts about the fire-bodied beings by cutting down the veils covering their power, knowledge and intuition by means of white (pure) meditation. Here, there is no clear indication of what has been cut down. But the word 'realise' obviously implies the cutting down of the veils of knowledge and intuition, which leads to direct experience.

**Hero:** Capable of overcoming the veils.

**Self-restrained:** Restrained in respect of the objects of senses and mind.

**Always self-controlled:** Established in self-control on account of their controlling the passions of anger, pride, etc.

**Always wakeful:** Always vigilant towards pure consciousness.

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर—दिसम्बर, 2002  109



There are four means of cutting down the veils, e.g., spiritual vigour, self-restraint, self-control and wakefulness. Alone those who are self-restrained, self-controlled and wakeful are the heroes who are capable of cutting down the veils.

1.69 *je pammatte guṇaṭṭhi, se hu daṇḍe pavvuccati.*

**One who is non-vigilant and covetous of sensual objects is called an instrument of violence.**

### Bhāṣyaṃ Sūtra 69

In the presence of non-vigilance, the unveiling of the covers is impossible. The Sūtra supports this when it says: The person who is non-vigilant is covetous of the sensual objects and is truly called *daṇḍa*, instrument of violence. Such person virtually injures himself by injuring the fire-bodied beings, and therefore, he is called the instrument of violence. In the *Sūtrakṛtāṅga* (1.7.2.-8), we get the word *āyadaṇḍa* (Skt. *ātmadaṇḍa*, the injurer of the self). It follows from this that the person who is non-vigilant and covets the sensual objects indulges himself in injury to life. The two sources of injury to life are non-vigilance and covetousness. The injury in thought, word and deed springs up from these two sources.

1.70 *taṃ pariṇṇāya mehāvī iyāṇiṃ no jamaḥaṃ puvvamaḥāsī pamāeṇaṃ.*

**Comprehending this, the wise resolves: Henceforth I will not indulge in any violent actions which I used to do in the past out of non-vigilance.**

### Bhāṣyaṃ Sūtra 70

Comprehending that non-vigilance is the cause of violence, the wise monk disciplines himself by the strong resolve: I am now living a life of self-restraint and therefore I should desist from injury to the fire-bodied beings that I indulged in out of non-vigilance when I was a householder.

Wise: The wise is he who has established himself in the discipline by comprehending the real nature of violent activities and abandoning them.

1.71 *lajjamāṇā puḍho pāsa.*

**Look at various self-restrained monks ashamed of their violent activities.**

1.72 *aṇaḡārā motti ege pavayamaṇā.*

**Some people style themselves as homeless mendicants.**

### Bhāṣyaṃ Sūtras 71, 72

Sūtra 71 and 72 are to explained as Sūtra 17 & 18.

1.73 *jamiṇaṃ virūvarūvehiṃ satthehiṃ agni-kamma-samāraṃbheṇaṃ agani-satthaṃ samāraṃbhamāṇe, aṇṇe vaṇegarūve pāṇe vihimsati.*

But they indulge in violent actions to fire-bodied beings with various weapons, which involve destruction of other classes of living beings.

### Bhāṣyaṃ Sūtra 73

The *Niryukti* has enumerated the weapons that injure the fire-bodied beings as follows:<sup>7</sup>

- (1) Soil or sand
- (2) Water
- (3) Moist vegetation
- (4) Mobile creatures
- (5) Homogeneous weapons: for instance, leaf-fire is the weapon for hay-fire. The hay-fire turns life-less when touched by leaf-fire.
- (6) Heterogeneous weapons: for instance, water (carbon-dioxide) etc.
- (7) Mixture of both (fifth and sixth), for instance, fire mixed with chaff and cowdung is the weapon for other types of fire.

1.74 *tattha khalu bhagavayā pariṇṇā paveiyā.*

On this subject the Lord has propounded the principle of comprehension and abandonment.

1.75 *imassa ceva jīviyassa, parivaṃdaṇa-mānaṇa-pūyaṇāe, jāi-maraṇa-moyaṇāe, dukkhaṇaḍighāyaheṃ.*

Longing for survival; praise, reverence and adoration; life and death, emancipation, and elimination of physical and mental suffering.

1.76 *se sayameva aṇṇi-satthaṃ samāraṃbhai, aṇṇehiṃ vā aṇṇi-satthaṃ samāraṃbhāvei, aṇṇe vā aṇṇisatthaṃ samāraṃbhamāṇe samāṇujāṇai.*

He himself indulges in killing the fire-bodied beings or instigates others to do so or he approves of such killings by others.

1.77 *taṃ se ahiyāe, taṃ se abohoe.*

Such violence is for his harm, is for his non-enlightenment.

1.78 *se taṃ saṃbujjhamāṇe āyāṇīyaṃ samuṭṭhāe.*

He (the ascetic) comprehends the result of violence and applies himself to the practice of self-restraint.

1.79 *soccā khalu bhagavao aṇṇarāṇaṃ vā aṃṭie ihamegehiṃ nayam*

*bhavati - esa khalu gamthe, esa khalu mohe, esa khalu märe, esa khalu ñarae.*

Hearing from the *Jīna* or other ascetics, some people come to know such violence is indeed a knot, is delusion, is death, is hell.

1.80 *icchattham gaḍhie loe.*

Nevertheless, the people entrapped in pursuit of pleasure (indulge in violence to fire-bodied beings).

1.81 *jamiṇaṃ virūvarūvehiṃ satthehiṃ aḡaṇi-kamma-samāraṃbheṇaṃ aḡaṇi-sattham samāraṃbhamāṇe aṇṇe va ñegarūve pāṇe vihiṃsati.*

They indulge in violent actions to fire-bodied beings with various weapons, which involve destruction of various other classes of beings.

1.82 *se bemi - appege aṃdhamabbhe, appege aṃdhamacche.*

Thus do I say: somebody pierces or cuts the blind (fire-bodied beings which have the feeling of intense pain like that of the human beings born blind, deaf, dumb, lame and deficient in other limbs).

1.83 *appege pāyamabbhe, appege pāyamacche.*

Some people pierce and cut foot, ankle etc. (see sūtra 29 for all the thirty-two limbs of the body).

1.84 *appege sampamārae, appege uddavae.*

Sometimes a person is beaten to a state of unconsciousness and sometimes tortured to death.

#### Bhāṣyaṃ Sūtra 74-84

See Sūtra 20-30.

1.85 *se bemi - samti pāṇā puḍhavi-ñissiyā, taṇa-ñissiyā, patta-ñissiyā, kaṭṭhañissiyā, gomaya-ñissiyā, kayavara-ñissiyā, samti sampātimaṃ pāṇā, āhacca sampayaṃti ya. aḡṇiṃ ca khalu puṭhā ege samḡhāyamāvajjanti. je tattha Samḡhāyamāvajjami, te tattha pariyāvajanti. je tattha pariyāvajanti, te tattha uddāyanti.*

Thus do I say: There are living beings inhabiting earth, grass, leaf, wood, cowdung and garbage. There are insects which fly into fire impetuously; some of them shrivel when touched by fire, faint and eventually die.

#### Bhāṣyaṃ Sūtra 85

There are many varieties of creatures such as those inhabiting the earth - the mobile ones and the immobile ones. Among the mobiles, there are *kunthu* (animal-cub), ant, snake, frog, etc. Among the immobile creatures there are tree, shrub, creeper, grass, etc. The creatures

inhabiting grass and leaves are butterfly, louse, etc. Those inhabiting wood are timber-worm, ant, egg, etc. The insects inhabiting cowdung are *kunthu* (animal-cub), fungi etc. Those inhabiting garbage<sup>8</sup> and refuse are worm, insect, butterfly, etc. The flying insects are fly, bee, insect, butterfly, mosquito, bird, air-bodied beings etc. They fly into fire impetuously; coming in touch with fire, some are mutilated, i.e. hurt and bruised; the mutilated ones lose consciousness, i.e. fall into coma; having fallen into coma, they meet death.

1.86 *ettha sattham samārambhamāṇassa iccette ārambhā aparinnāyā bhavaṃti.*

The person thus indulging in acts of violence does neither comprehend, nor abandon them.

1.87 *ettha sattham asamārambhamāṇassa iccette ārambhā parinnāyā bhavaṃti.*

The person, not indulging in acts of violence, is capable of comprehending and abandoning them.

1.88 *taṃ parinnāya mehāvī neva sayam agaṇi-sattham samārambhejjā, nevaṇṇehiṃ agaṇi-sattham samārambhāvejjā, agaṇi-sattham samārambhamāṇe aṇṇe na samaṇujaṇejjā.*

Comprehending this, an intelligent ascetic should not indulge in violence to fire-bodied beings, nor should he instigate others to do so, nor should he approve of such violence committed by others.

1.89 *jassete agani-kamma-samārambhā parinnāyā bhavaṃti, se hu mūṇi parinnāya-kamme. — tti bemi.*

The ascetic who comprehends and abandons these acts of violence to the fire-bodied beings is indeed an ascetic who has fully comprehended and abandoned all acts of violence.

### Bhāṣyam Sūtra 86-89

See Sūtras 131-34.

1. Ācāraṅga Cūrṇi, p.29: Logo aggilogo.
2. Ācāraṅga Niriyukti, gāthā 119.
3. Ācāraṅga Vṛtti, patra 45
4. Daśaveāliyaṃ, 6/34: bhūyaṇamesamāghāo havvavāho na saṃsao.
5. The construction of this Sūtra is in the style of circularity.
6. abhibhūya - In the Sūtrakṛtāṅga Sūtra, 1/6/5, we get the text abhibhūyanāṇī. It corroborates our interpretation. Even in the present canon (5/111), we get the text abhibhūya adakkhu. There also, it carries the same spirit.

The Cūrṇi has given several interpretations of the word 'adakkhu' -  
“cattāri ghāikammāṇi abhibhūta, parisahā uvasagge ya abhibhūya, ahavā  
jahā āicco gahaṇakkhattatārāṇaṃ prabhaṃ abhibhūya bhāti tathā  
chaumatthiyanāṇāṇaṃ abhibhūya sadevamaṇuyāsuraē parisāe majjhayāre  
parititthie abhibhūya .... (Ācāraṅga Cūrṇi, pp. 29, 30)

Pātaṇjalayogadaṛsaṇānusāreṇa vyutthānaśaṃskārāṇāṃ abhibhave sati  
nirodhasaṃskārāṇaṃ prādurbhāvo jāyate. (Pātaṇjalayogadaṛsana,  
vibhūtipāda, sūtra 8).

7. Ācāraṅga Nirukti gāthās 123, 124:

puḍhavi āukkāe ullā ya vaṇassaī tasā pāṇā.

bāyateukkāya eyaṃ tu samāsao satthaṃ ..

kiṃci sakāyasatthaṃ kiṃci parakāya tadubhayaṃ kiṃci.

eyaṃ tu davvasatthaṃ bhāve ya asaṃjamo.

8. Ācāraṅga Vṛtti, Patra 50: patratṛṇadhūlisamudāyaḥ kacavaraḥ.



# The Stage of Development of the Prākṛit of Bhāsa Dramas and his age\*

— V. Lesny

T. Gaṇapati Śāstrī, the worthy editor of the newly discovered dramas of Bhāsa, places the composer of these dramas latest in the 4th century B.C.<sup>1</sup> In the notice of the first two dramas A.A. Macdonell rightly observed that such a high age for the poet appeared doubtful to him.<sup>2</sup> L. Suali is indeed inclined to follow the Indian editor,<sup>3</sup> but in his work *Zur Fūhrstucke des indischen theaters* Stenkonow has placed Bhāsa in the last quarter of the 2nd century A.D.<sup>4</sup> In the present paper, which is a brief synopsis of my previous treatise,<sup>5</sup> written in Czech, attempts have been made to solve the problem of the date of composition of the dramas purely from the standpoint of linguistic features. As it becomes clear from the following Bhāsa Prākṛit which represents a stage of development, is younger than that represented by the Prākṛit of Aśvaghōṣa but earlier than that, which is reflected in the Prakrit of Kālidāsa.

In the Prākṛit of Aśvaghōṣa<sup>6</sup> we do not find any where the elision of the consonants, but contrarily in Bhāsa Prākṛit the consonants *k, g, c, j, t, d, p, b, v* and *y* are elided between vowels, though not so frequently as, for example, in the Prākṛit of Kālidāsa (comp. Pischel, gramm. 186).

The old Indian *k* is elided : *amudaa (amṛiaka)* Pratij. 57,<sup>7</sup> *Avimāraa (Avimāraka)* Avim. 19, *ahia (adhika)* Bāl. 35, *āāsa (ākāśa)* Avim. 76, *uvaāra (upakāra)* Abhiṣ 13, *kaḍua (kaṭuka)* Svapnav. 36, *ghoḍaa (ghoṭaka)* Pañe. 22, *dāriā (dārikā)* Avim. 14, *dālaa (āālaa (dāraka)* Bāl. 9, *modaa (modaka)* Svapnav. 29. Pratij. 4r, 46,

\* Translated from original German by S.N. Ghosal. The Paper was published in the Journal of the Oriental Institute Volume XIII, 1963-64, Edited by B.J. Sandesara, Oriental Institute, Baroda

*ṣaadaa (śakaṭaka)* Bāl. 15, *sua (śuka)* Avim. 34, *suumāra (sukumāra)* Svapnav. 29, *sevaa (sevaka)* Pratij. 57. *loa (loka)* Avim. 14, Pratij. 57.

The old Indian *g*: *āmissam (āgamīṣyāmi)* Svapnav. 55, Bāl. 30, *ṇaara (nagara)* Svapnav. 55, *ṇiala (nigada)* Pratij. 42, Bāl. II, *bhaavam (bhagavān)* Avim. 27, *mandabhāā (mandabhāgā)* Svapnav. 24, *mia (mr̥ga)* Svapnav. 36, *suṭṭhu idam (suṣṭhu gītam)* Bāl. 42.

The old Indian *c*: *aīreṇa* Avim. 3, *avainodi (avacinoli)* Bāl. 5r. *vida (ucida)* Bāl. 9, *(bahmaāri)* Pratij. *(maria)* Pratij. 57. *sūedi (sūcayati)* Svapnav 36.

The old Indian *j*: *gaa (gaja)* Pratij. 9, Kaṇabh. Sr, *joaṇa (yojana)* Pratij. 42, *bhoa (bhoja)* Avim. 14, *rāa (rāja)* Abhis. r6, *Laanī (rajani)* Bāl. II.

The old Indian *t* (if does not become transformed into *d*): *gacchai (gacchati)* Avim. 15, *golia (glaita)* Bāl. 62, *ciṭṭhai (tiṣṭhati)* Pratij. 39, *dīsai (dr̥ṣayate)* Avim. 28, *dhāvai (dhāvai)* Avim, r8, *pivai (pivati)* Bāl. 19, *vīlia ...* (Abhis. 22).

The old Indian *d*: *khāida (kāḍita)* Pratij. 45, *jai (yadi)* Madhyam. 22, *maana (madana)* Avim. 56, *hīaa (hr̥daya)* Bāl. 56, Svapnav. 56.

The old Indian *p*: *ayyautta (āryapuira)* Avim. 88, *kaṇṇaura (kanyāpura)* Avim. 34, *rāautta (rājaputra)* Avim. 104, *ajja uṇa (adya punaḥ)* Avim. 56. The word *ayyautta* appears very frequently but *p* is always elided, which agrees quite perfectly with the (later) rule, according to which the Old Indian *p* is regularly elided before *u* and *ū* (cf. Pischel, Gramm. 199).

The old Indian *v*: *diase (divase)* Avim. 14, 106, *taha me uttantam — (tathā me vṛttāntam bhana)* Abhis. 24.

The old Indian *y*: *udaa (udaya)* Svapnav. 59, *ussāraidavaā (uisārayitavyā)* Sapnav 16, *kaa (kṣaya)* Pratij. 45, *jojaanti (yojayanti)* Pratij. 57, *ṇiccaa (akṣaya)* Urubh. 109, *palāadi (palāyate)* Pratij. 6r. *paāiṇi (pradāyini)* Urubh. *Kaṃdaṇa* (krandana) Avo./ 16, *vaassa (vayasya)* Svapnav. 4r, *(vācaissasi)* Pratij. 46, *hīaa (hr̥daya)* Avim. 106.

I cite only according to the pages. On the inadequacy of the Indian — of E. Leumann. A request to the future editors of dramas and the ..... prose-texts of the Indian literature, vol. 2, p. r6r.

The sound *y* in the initial position never becomes change to *ḥ* in Aśvaghōṣa, but in Bhāsas Pkt. this later feature is very commonly found: *jakkhiṇī (yaksini)* Avim. 5I, *jadā (yadā)* Avim. 14, Bāl. 35, *jadi (yadi)* Pratij. 45, Bāl. 13, *jaha (yathā)* Svapnav. 3, *juga (yuga)*. Bāl. 15, *jujjai (yujiyate)* Svapnav. 21, Pratij. 58, *juvadi (yuvadi (yuvatī))* Bāl. 36, *joandharāna*

(*yaugandharāyaṇa*) Svapnav. 12, *jogga* (*yogya*) Pratiḥ. 33. There are instances in which the old Indian sound *y* remains unchanged, *yadī* Pratiḥ. 55, *yācemi* (*yāce*) Avim. 37, 86, *Karṇbh.* 77, 78, 79, aggado *yāhi* (*agrato yāki*) Svapnav. 56, *yādu*, *yādu bhavaṃ* (*yātu*, *yātu bhavān*) Pratiḥ. 46, but contrarily *aggada ahi* Avim. 36.

The modification of a surd to sonant happens in Aśvaghoṣa only for once in the word *surada*.<sup>9</sup> But in Bhāsa's Prakṛit the change of the old Indian sound *t* to *d* and of *ṭ* to *ḍ* is quite frequent.

The old Indian *ṭ* becomes *d*: *kuḍumbiṇī* (*kuṭumbinī*) Bāl. 9, *ghoḍaa* (*ghoṭaka*) Pañc, 22, *ceḍi* (*ceḍī*) Avim. 84, *taḍāa* (*taḍāa*) Pratiḥ 57, *phuḍikarissam* (*sphuṭiṣyāmi*) Avim. 74, *vaḍua* (*vaṭuka*) Avim. 73, *saṃkaḍadā* (*saṃkaṭatā*) Avim. 19.

The old Indian *t* becomes *d*: *amudaa* (*amṛtaka*) Pratiḥ. 57, *avajidi* (*avajīti*) Pratiḥ. 52, *āadā* (*āgatā*) Avim. 75, *ussāraīdavvā* (*utsārayitavyd*) Svapnav. 2, *kahida* (*kathita*) 3. *nīādchi* (*niryātata*) Pratiḥ. 45, *dūla* (*dūta*) Avim. 3, *paṭhida* (*paṭhita*) Avim. 46, *Bhaddavadī* (*Bhadravati*) Pratiḥ 58, *hṇādā* (*snātā*) Pratiḥ 57. Also in the initial position: *dāva* (*tāvat*) Pratiḥ. 44, Bāl, ii, *de* (*te*, pronoun person) Pratiḥ. Bāl. r8.

In the Prakṛit of Aśvaghoṣa we do never find the change of the dental to the cerebral one,<sup>10</sup> but in the Prakṛit of Bhāsa both initially and medially becomes always changed to *ṇa* as in the subsequent period.

In Bhāsa the consonant-group *jñ* has been treated in a way, which is different from that, in which it has been treated in Aśvaghoṣa. In the Śauraseni Aśvaghoṣa *jñ* becomes *ññ*, which is prescribed for Māgadhi in the later period. In the Śauraseni of Bhāsa this group of consonants is either changed to *ṇṇ* — a fact, which supports the conjectures<sup>11</sup> of Luders that in the Śauraseni the conjunct-consonant *jñ* in course of its transformation goes beyond *ññ* and become devolved into *ṇṇ*.

The old Indian *jñ* becomes *ññ*: *akkarañño atthañño* a (*akṣarajñōrthajñaka*) Avim. 16, *adesakālaññadā* (*adesakālaññatā*) Avim. 75, *bhāvāñña* (*bhāvajña*) Avim. I, *viññāna* (*vijñāna*) Avim. 24.

The old Indian *jñ* becomes *ṇṇ*: *aṇṇāda* (*ajñata*) Svapnav. 41, *janna* (*yajñā*) Avim. 90, *paḍiṇṇā* (*pratiññā*) Svapnav. 57, (*viññāna*) Svapnav. 23, Avim. 14.

Also the sound-groups *ny* and *ṇṇ* becomes changed to *ññ* in Aśvaghoṣa, while in Bhāsa as also in the later dramatists these sound-groups become transformed in to *ṇṇ*: *aṇṇa* (*anya*) Avim. 16, *adhannadā*



(*adhanyaīā*) Avim. 68, *abbahmaṇṇa* (*abrahmaṇya*) Avim. 86, *kaṇṇaura* (*kanyā-pura*) Avim. 34.

Aspirates except *ch*, *jh*, *th*, *dh*, become mostly changed to *h* in the intervocalic position (Pischel, grammar § 188) : this feature is found more frequently also in Bhasas Prakrit: but contrarily it is absolutely wanting in Aśvaghoṣa.<sup>12</sup>

The old Indian *kh* becomes changed to *h*: *ahimuha* (*abhimukha*) Pratiḥ. 46, beside *mukha* Svapnav. 19, *sahippaṇṇa* (*sakhipraṇaya*) Avim. 8r, *leha* (*lekha*) Pratiḥ 4. The word *suha* (*sukha*) is evidenced in this form only : Svapnav. 27, Pratiḥ. 6, Avim. 23, 24, 56, Abhis. 13, 22.

The old Indian *gh* becomes changed to *h*: *meha* (*megha*) Avim. 76. 86.

The old Indian *th* becomes changed to *h*: *ahava* (*athavā*) Avim. 28, *kahassam* (*kathyasyāmi*) Svapnav. 53, *taha* (*tathā*) Abhis. 24, *paha* (*patha*) Pratiḥ. 55, *sanāha* (*sanātha*) Avim. 101. Also in the ending of the 2nd pars. plur. of the Indicative and Imperative: *suṇaha* Pratiḥ. 50.

The old Indian *dh* becomes *h*: *Ahia* (*adhika*) Svapnav, 59 beside *adhia* Svapnav. 19, 39, *āuhāgāra* (*āyudhāgāra*) Pratiḥ. 67, *osaa* (*auśadha*) Svapnav. 27. beside *osadha* Avim. 8r, *dahi* (*dadhi*) Avim. 28, *mahura* (*madhura*) Svapnav. 44, *sādhu* (*sādhu*) Pratiḥ. 40.

The old Indian *ph* becomes changed to *h* : *sehāliā* (*śephālikā*) Svapnav. 3r. For this change compare Pischel 200.

The old Indian *bh* becomes changed to *h*: *ahinava* (*abhinava*) Avim. 79, *ahimuha* (*abhimukha*) Pratiḥ. 46, *ahiramadi* (*abhiramate*) Avim. 14, *padinnāhāra* (*pratiḥnāhadra*) Svapnav. 57, *sohā* Avim. 73.

Often the sound *bh* remains unchanged : *abhijaṇa* (*abhijaṇa*) Svapnav. 92, *abhinavd* Avim. 37.

While in Aśvaghoṣas Prakrit peshapo there occurs only for twice the simplification<sup>13</sup> of the assimilated consonant-groups but not the compensatory lengthening the same (i.e. this feature) is noted quite frequently in Bhasa, but not so frequently as in the later authors (e.g. in Kālidāsa (*Kartavya*) Svapnav. 23 besides *Kattavva* Svapnav. 25, *Kādum* (*Kartum*) pratiḥ 59 beside *Kattum* Pratiḥ. 14, 20, 51, *Kīsa* Avim. 16, 7r, 73, *dīsai* (*drśyate*) pratiḥ. 59, Avim. 28, 91 besides *dissadi* Avim. 55, 70, Svapnav. 63. (*drśyate*)-58. Bāl, 50, Madhyam. 4, Urubh 101.

In the word *sīsa* (*sīrṣa*) the sound-group is always simplified and the preceding vowel is lengthened : Svapnav. 48, 50, 51, 56, 76, Pratiḥ. 40, Avim. 79. In Aśvaghoṣa one reads, for example, only the form *dissadi* (luders

: Bruchstücke p. 55), in Bhāsa one finds the compensatory lengthening in this verb only for three times — otherwise *dissadi* is always read,— but in Kālidāsa's Śakuntalā the form *disadi* is alone current.<sup>14</sup>

Before the simple consonants the long vowel is often shortened in the later Prākṛit dialects and the consonant is doubled (Pischel, Gramm : 541), but this does not appear in Aśvaghōṣa : also in Bhāsa pkt. this this feature is only scarcely noticed : there occur more frequently : *evva (evā)* Svapnav. 34, *evvam (evam)* Avim. 7, *joṽvaṇa (yauvanā)* Avim. 39, *devva (daivā)* Avim. 22 and specially *ekka (eka)*, Pischel, Gramm 91): in the dramas, edited uptill now, one finds : *ea*: Svapnav. 56, *eāi*: Avim. 69, 79, *eka* : Pratij. 39, 46, 69, Avim. 20, 23, 38, 82, 83, *earnd* Pratij. *ro* : *ekka* : Svapnav. 29, 33, 41, Pratij. II, 14, Avim, 31, 56, *ekkāṇā* Pratij. 12.

Specially important is the sound-group *ry*, which becomes transformed into *yy* both in Aśvaghōṣa<sup>15</sup> and Bhāsa, but it becomes later modified to *jj*<sup>16</sup> comp. *Kayya (Kārya)* Pratij. 3, 54, 59, 60, Avim. 15, 24, 25, 28, 39, 85 or *ayya (ārya)* Svapnav, 3, 4, 6, 20, 28, 45, 62, 63.

According to the grammarians in Śaurasenī only the form *attāṇam* is valid. In Bhāsa one finds only the form *attāṇam* Avim. 21, 28, 70, 77, 82, 83, Abhis, 15, 21, 28. The nom. plur. of the pronoun of the 1st pers. appears as *vayam*<sup>17</sup> in Aśvaghōṣa's Śaurasenī, in Kālidāsa's the form *amhe* appears alone. Bhāsa has three forms : *vayam* Svapnav. 29, 39, *vaam* Avim. 93 and *ahme* Abhis. 28.

The gen. plur. of the same pronoun often appears in Bhāsa as *ahmāṇam* (In Aśvaghōṣa is found only *tum (h) āk (am)* Svapnav. 25, 26, Avim, 25, 26, 28, 29, 56, 75, 76, Bāl 29, as *ahmāṇam* Svapnav. 23, 70, Pratij. 55, Avim, 22, 23, 25. Late *ahmānam* is the only usual form (Pischel, Gramm 419). Similar inconstancy is to be found in the forms of the 2nd person.

These peculiarities show that Bhāsa's Prakrit and so also Bhāsa himself are younger than Aśvaghōṣa — but earlier than Kālidāsa, and if individual features be calculated on the basis of percentage<sup>18</sup> one should be inclined to consider the period, that separates Aśvaghōṣa from Bhāsa, as longer than that, which remains between Bhāsa and Kālidāsa. My linguistic investigations perfectly agree with the view<sup>19</sup> of Prof. Winternitz— according to which Bhāsa must be younger than Aśvaghōṣa but earlier than Kālidāsa and I am inclined to place the author of our dramas down to the first half of the fourth century A.D.<sup>20</sup>

The discovery of the Buddhistic dramas of Aśvaghōṣa and also the dramas of Bhāsa will have a reaction upon the theories of the origin of the

Indian drama including the Greek influence. These will enfeeble also Frankes theory about the occurrence of the secondary Sanskrit.<sup>21</sup>

Recently H. Luders<sup>22</sup> has expressed definite opinion against the identification of the Prākṛit grammarian Vararuci with the Vārttikakāra and observed that the use of the old Prākṛits in the Buddhists dramas excludes this identification directly. It is not without significance that the Prākṛit grammar of Vararuci describes by all means a stage of Prākṛit, which is chronologically later than that represented by Bhāsa's dramas. Thus Vararuci prescribes the transformation of the old Indian *ry* into *jj* in Śaurasenī, which appears almost without variation (3, 17) : in Bhāsa the old Indian *ry* develops into *yy* without exception — Again in Śaurasenī Vararuci prescribes the transformation of *jñ* into *nn* (12.8), but Bhāsa has either *ññ* or *nn*. According to Vararuci in Śaurasenī the nom. acc. pl. ur. of the neuter a-stems has the ending — *ai* (12.11) (e.g. also the sūtra 5.26): Bhāsa employs only the ending — *ni*.

In the last time an attempt was made to place the Mudrārākhṣasa in a very early period— as early as the 4th century A.D.<sup>23</sup> As one might consider, this too is impossible as it does not leave sufficient difference between the Prākṛit of Kālidāsa and that of Viśākhadatta and consequently Viśākhadatta should be separated from Bhāsa by a longer stretch of period. 24

\* The original paper is published in the journal of the Z.D.M.G., VOL. 72, 1918, pp. 203-

1. The Svapnavāsavadatta, p. XXVII. Trivandrum Sanskrit Series No. XV, Bhāsa's works, No. I, Trivandrum, 1912.
2. Journal of the Royal Asiatic Society, 1913, p. 189.
3. Giornale della Societa Asiatic Romana B 25 (1913), p. 95.
4. Essays on the history of culture and language — particularly of the east, dedicated to Ernst Kuhn on his 70th birthday, Munich, 1916, p. 106f.
5. Die Entwicklungsstufe der Prākṛit-dialekte in Bhāsa's Dramen and die Datierung Bhāsa's — Abhandlungen der bohm. Akademie der Wiro., III. Klasse, No. 48, prog. 1917. The following dramas are taken into consideration. Svapnavāsavadatta, Pratiñāyauḡandharāyaṇa, Prañcarātra, Avimāraka, Bālacarils, Madhyamavyāyoga, Dūtavākya, Dūtaghatokaco, Kaṇabhāra, Urubhanga and Abhiṣekanātaka.
6. H. Luders: Bruchstücke buddhistischen Dramen. Berlin 1911. S. 36, 42, 48, 6c.
7. I cite only according to the pages. On the inadequacy of the Indian ... of E. Leumann. A request to the future editors of dramas and the ... prose-texts of the Indian literature, vol. 2, p. 161, 617.
8. H. Luders, Bruchstücke, p. 48.
9. H. Luders, Bruchstücke, p. 48

10. Ibid. p. 49.
11. Ibid. pp. 44, 48, 56, 60.
12. Ibid, pp. 42, 52.
13. H. Lüders, Bruchstücke, pp. 49, 55.
14. Cf. Cappellers catalogue S.V.
15. H. Lüders, Bruchstücke, p. 60.
16. Hemacandra permits also yy, cf. Pischel, Gramm 289.
17. H. Lüders, Bruchstücke, p. 59
18. cf. my treatise in Gzech, p. 10
19. Festschrift of Ernst kühn p. 301. Observation.
20. In this place I desist from supplying the interesting information about the stages of the individual Prākṛit dialects in Bhāsa's dramas, since it did not contribute any thing to the fixation of the date of Bhāsa.
21. For denoucing this theory one should refer to the researches, which Prof. Ernst Windisch has embodied in his treatise *Über den sprachlichen character des Pāli in the proceedings of the XIVth. International Congress of Orientalist*, Vol. I, Sect. I (Paris 1906), p. 252, f. cf. also H. Luders : *Bruchstücke*, p. 61f.
22. H. Lüders : *Bruchstücke*, p. 64. For this question the literature has been cited by Pischel in his *Gramm* 32.
23. J.S. Speyer : *Studies about the Kathāsaritsāgara*. *Verhandelingen for koninglijke Akademie van Wetenschappen te Amsterdam*. Afdeling Letter Kunde, Nieuwe Reeks. Deen VIII. No. 5, p. 51, f. cf. also A Hillbrandt *ZDMG*. Vol. 69 (1915), p. 363 and Hertels objection *ZDMG*, Vol. 70 (1916), pp. 133. ff.
24. The problem about the age of Bhāsa has been discussed also by J. Jully in his treatise *Kollaktaneen zum Kautilyas Arthasastra — Nachrichten non der konigl. Gesellschaft der Wissenschaften Zu Gottingen*, 1916, p. 353 and I feel happy to have been successful in providing new evidences to his fixation of the date (3-4 century after Christ), which he expressed in a sceptical manner.

# Concept of Nísreyas in Jain Philosophy

— Muni Mahendra Kumar

Before we discuss the concept of Nísreyas, we have to understand the fundamental theories of the Jain philosophy. The Jain Philosophy propounds the theory of soul as an independent entity, having real existence, which has no beginning and end. As its existence is beginningless, so is its relation with the *karma-pudgal*, which is another independent reality. Whereas soul is non-physical, *karma-pudgal* is physical. Both co-exist with each other. *Karma-pudgal* which is responsible for keeping the soul in bound state and making it undergo a continues rotation in the world from one form of existence to another through transmigration or in the cycle of birth and death. The soul, which through its own efforts can make itself free from the bondages of *karma-pudgal*, attains the state which is called *mokṣa* or *nísreyas*. Once the *mokṣa* is attained, the soul remains forever in that state, and the cycle of birth and death totally ceases. The reason that *mokṣa* is an everlasting condition is that there remains no more and no cause of its rebirth.

In the state of *mokṣa*, the soul is free from all bondages of *karma* which used to veil its innate qualities of infinite knowledge, infinite perception, infinite bliss and infinite energy. Therefore, the soul which is now called *siddha-ātmā*, is possessed of infinite knowledge, etc. The following eight qualities are enumerated -

- (1) Infinite knowledge or omniscience
- (2) Infinite perception/intuition.
- (3) Freedom from physical pain & pleasure.
- (4) Infinite bliss or absorption in the self (atma-ramana)
- (5) Bodilessness.

- (6) Freedom from change in extension in space.
- (7) Freedom from status-low or high.
- (8) Freedom from obstruction by any external force.

The Ācārāṅga Sūtra describes the nature of free soul as follows:

This description is similar to the Upaniṣadic description. Although there is a fundamental difference in the Vedic concept of *niśreyas* and the Jain concept, there are many things in common. For example, according to both of them, the pure soul is always immersed in infinite *ānand*, which is actually its innate nature.

In the Jain concept of pure soul, the following features are quite peculiar:

(1) The existence of each pure soul is independent. The number of such souls is infinite. They all stay at a definite place in the cosmos which is called 'Siddha Kṣetra'.

(2) The spatial extension of pure souls may differ from each other. The rule is that 2/3 of the extension of the last body left remains; so the maximum and minimum spatial extensions of the *siddha-ātmā* is between the 2/3 of the maximum and minimum of those available in humans who can attain the *mokṣa*.

(3) The infinite number of *siddha ātmā* remain in the limited space, without obstructing each other. This inter-penetrability is explained by "pradīp-prabha-patāt vat" that is, just as the light of any number of lamp do not obstruct each other, so also the *siddha-ātmās* occupying the same space do not obstruct each other.

### Process of Attainment of Niśreyas

The state of *Niśreyas* is attained only when the *karmas* are totally annihilated. But it is obvious that the process of annihilation starts with the gradual elimination of *karmas*. Thus, with every partial elimination, the partial attainment of *mokṣa* is made. Just as in filling a bucket of water, every drop added makes its contribution, but it is the last drop that is responsible for the culmination; in the same way every time the soul becomes free from *karma*, partial attainment is made, and at last soul becomes completely free from *karma* when the last particle of *karma* is separated from the soul. In the light of this fact, we can say that the *mokṣa* or *niśreyas* is a continuous process lasting over a long period. When a *sādhak* makes his soul partially free from impurity of *karma*, some sort of bliss is experienced by him. Specially, in the state of deep meditation, such feeling is very clearly experienced. Thus, we can say that the state of

nīsreyas is not only the ultimate one, but also those moments of 'bliss' may be considered as the stepping stones to the ultimate state. This is expressed as "iheva mokṣa suvi hitānam."

The nishreyasha in the Jain philosophy can be considered as something practical and accessible to all who make efforts to attain it.

### Niścaya & Vyavahāra Nayas

The concept of *nīsreyas* that has been explained is in the perspective of *vyavahāra naya*. The *niścaya naya* propounds that soul in itself is always free, because no *karma* can actually contain at the original nature of soul. This is accepted by the Jain Philosophy and this view is very near to vedantic concept of theory of Brahman, *Sāṅkhya* philosophy of *puruṣa* as "akarta" and Buddhist philosophy of *Nirvāṇa*. In other words, we may say that when we enter the *niścaya* world, almost all differences evaporate and we get an unanimous view regarding the ultimate state of *nīsreyas*. But when we deal with the *vyavahāra naya*, the different perspectives emerge and we get the varied view. After all, we have to live in *vyavahāra* world, and therefore, try to reconcile the differences by applying the theory of *syādvād*.

The theory of relativity as propounded by Albert Einstein and Law of gravitation propounded by Newton are good examples of understanding the difference in *niścaya* and *vyavahāra nayas*. Space & time, according to Einstein are relative, while they are absolute in Newtonian Physics. If we reconcile them, we find that for our practical purposes, Newtonian laws still work and offer us simple theories to understand the working of physical world, while Einstein approach is complicated and is applicable in micro-cosmos.

The essence of the *Nīsreyas* concept in our practical life is that people following spiritual, moral and ethical laws in life, can lead a life of bliss or ecstasy; while those who lead a life based on an absolutely materialistic world-view would make life more complicated and fraught with all sorts of disturbances.



# The Wide Implications of the Concept of Mode with Special Reference to Bhagavati Sūtra and Paṇṇavaṇā

— Dr. Samani Chaitnya Prajna

The concept of mode is related to the concept of change. Substance and mode are the issues which have been widely discussed in the field of philosophy under the names of Being and Becoming, Permanence and Impermanence, Identity and Difference and last but not least the Universal and the Particular. More or less all of them have emerged out of the same problem i.e. the problem of change-cum-eternity.

According to Bhagavati Sūtra and Paṇṇavaṇā substance is being, permanent, identical and universal and mode is becoming impermanent, different and particular. Bhagavati Sūtra mentions that reality manifests in two forms i.e. substance and mode. It does not mean that reality is divided. It is, in fact, one but observer can see it in two forms. Siddhasena Gani supporting the scriptural view in his commentary on Tattvartha Sutra says:

‘Ontologically substance and mode are inseperable. The distinction of the two is only the mental projection.’<sup>1</sup>

In such a condition the absolute view the substance and the mode about the reality can not be reasonable, as both are interconnected. To regard one as true and another as untrue is as meaningless as to breath without air. Substance is the uniting force through which paradoxical nature of the reality merges into unity. Contrary to it, mode is the dividing force through which unity of reality is changed into divercity. If it were not so why everything is



not coming out of everything? This is the ground on which Sankhya philosophy accepts that only the apt effect emerges out of the apt cause.

The interdependence and co-existence of substance and mode implies that mode is nothing but the changing property of a substance. When a substance passes through one condition to another and from one moment to another without losing its essence it is recognised as mode. <sup>2</sup>

Change can occur in the both entity and attribute. <sup>3</sup> Scriptures like Bhagavati Sutra and Pannavana deal with both the changes at large. The remarkable thing in them is that change takes place at two levels, viz., micro and macro technically known as '*pariṇāma*' <sup>4</sup> and '*pariyāya*' <sup>5</sup> respectively. The former is recognized as mutation and the latter as mode. The former stands for internal change and the latter for the external. In the absence of the former the latter can not take place. Thus, mode is always preceded by mutation. There is cause-effect relationship between the two.

To explain internal change both the *Bhagavatī Sūtra* and *Pannavana* have mentioned two types of mutation occurring in the world of consciousness and that of non-conscious respectively. <sup>6</sup> Each of them is further of 10 types. The mutations related to the conscious world are such as, mutation related to next birth, development of sense-organs, passions, psychic colours, mental, physical and vocal activities, application of knowledge, power of knowledge, power of intuition, self-restraint and sexual tendency. Likewise, the mutations related to non-conscious world are also of 10 types, such as, the unity of matter, movement of material entity, structure of material body, separation of material objects, colour, taste, touch, smell, weightlessness and sound property of non-physical element. Each of the ten are further divided into many according to possible alternatives. <sup>7</sup> For illustration senses are five. Mutation of one is almost different from that of the other. In this way change multiplies in mathematical proportion passing through the three periods of time.

### Wide Implications

The concept of mode referred to in the canons can be the concrete base to the following theories which are of universal application. In brief, the theories are as follows:

1. Objectivity of causal-efficiency
2. Notion of possibility and probability
3. Multiformality of the universe
4. Objectivity of Relativity
5. Individuality of any object

The explicit order of the universe is fundamentally dependent on the theory of change. If there were not potency of change there would have not been the causal-efficiency or cause-effect relationship among the objects. Causal-efficiency is the essential characteristic of an object. <sup>8</sup> All the schools of thought are unanimous about the fact that in the absence of the causal-efficiency nothing can exist. <sup>9</sup> Many of the scientific researches and experiments are based on the cause-effect principle. The philosophy that does not believe in the reality of modification has no answer to the problem that how is the whole universe coming out of one absolute static reality ? This has really been a great problem before Vedantins. This may be a reason for which they have to accept an extra element named as Maya to answer the problem. Accordingly, it is Maya with the help of which change takes place.

The upshot is that to deny modification as real means to deny the causal-efficiency. And thereby denies the existence of the whole world of being.

The whole world of being is passing through the threefold change, viz. natural, by conscious exertion and by both. <sup>10</sup> The change which occurs without conscious exertion is natural. e.g. the change of colour, taste, touch, smell, structure, motion, etc. of a material body. <sup>11</sup> The change in which involves the conscious exertion, such as, the matter converted in the form of body, sense-organ, physical properties like colour, touch, size, etc. by the living being itself <sup>12</sup> is of second type. The change, which starts with the help of consciousness but later on continues in its natural way <sup>13</sup>, is of third type. e.g. house, table, etc. once having made by conscious being sustain and decay in their own way.

Sometimes it happens that object is changing even though there is no effect of the change on that object. In fact, change is twofold, viz.; similar and dissimilar technically known as '*sadrśa*' and '*visadrśa*' *pariṇamana* respectively. <sup>14</sup> The former is implicit, subtle and instantaneous. The latter is explicit, gross, lasting for some time and amenable to verbal expression. <sup>15</sup> In other words, what occurs independently is the similar change. What depends for its occurrence on conditions that are external is called dissimilar. <sup>16</sup> The noticeable thing here is that the former is too subtle to be recognized. This is the reason an object, after having changed, does not appear to be so. In the case of the liberated self, the medium of motion, the medium of rest and the change is always similar. Apart from these all other objects have both similar and dissimilar change.

The conceptions of probability and possibility are of paramount importance in modern science. By accepting reality as multifaceted the Jain philosophy has provided grounds for these scientific principles. In the context of change, Acharya Shree Mahapragya has beautifully presented the scientific outlook of the Jain thinkers in the following manner:

‘The subtle modifications can not be known through the senses. They are the object of super-consciousness. The visible modifications are gross. They are manifest and, therefore, can be known through the senses also. It is in the case of these gross modifications that we can think of both, the possible and the probable. Every modification has the possibility of changing into any other mode. A colour can change into another colour, a smell into another smell, a taste into another taste, and a touch; into another touch. Yati Bhoja has described two types of potentialities, viz.; the potentiality which can be actualized at a distant time (oghasakti) and potentiality which can be immediately actualized (samucitasakti). The former is the mediate cause, while the latter is the immediate cause of change. Grass has the potentiality of becoming ghee at a distant future. Curd can change into ghee immediately. The potentialities are too many to be enumerated. Theoretically, it could be said that potentialities of an object are innumerable as far as the mediate form of potentiality is concerned. A scientist through his research can know a few of these. A person, with the power of super-sensuous knowledge can know them through super-sensuous knowledge. An ordinary man can, however, know only the immediate cause or the visible modifications. We, therefore, can not put any limitation on the possibilities or probabilities.’<sup>17</sup>

Multiformity of the universe depends upon the multifromity of relationship among the fundamental realities. The fundamental realities postulated by all the philosophical schools are limited in number. For example, Sankhya system believes maximum in 24 and minimum in 2 elements. Yoga system believes maximum in 25 and minimum in 2. Nyaya-Vaisesika believe in 7 and 16 basic elements respectively. Likewise, Vedant system considers only one reality while Buddhist and Jain consider 5 and 2 fundamental realities. This is really a great wonder how infinite objects are coming out of finite realities. Without accepting the modification in the basic elements the mutiformity of objects can not come into being.

Fusion and fission, number, configuration, conjunction, disjunction, etc. are the distinguished modifications<sup>18</sup> happening through out the world causing variations of it. In modern science also, fusion and fission are regarded essential to generate energy and sub-atomic particles.

Moreover, the concept of modification also provides concrete ground to the theory of relativity. Unless we accept that one reality undergoes many changes relativity can not work. In modern science, the Theory of Relativity has been formulated on the base of the speed of light which is constant or rather absolute. In this reference, the question raised by some scholars is, if everything, which is empirical, is relative then what is absolute according to the Jain view? Without absolute nothing can be relative. So far as the concept of mode is concerned it appears from scriptures that substance is an absolute reality.<sup>19</sup> It is the constancy of substance on the basis of which relativity of modes can be justifiable whether they are successive or simultaneous.

Similarly, the individuality of any object can be maintained only on account of modification. It is in the sense that modification does not mean only mode but qualities also. Special quality of an object alone fixes the identity of the object. For example, consciousness is the only quality by which a sentient is known as sentient. If we overlook the quality there would be no difference between the sentient and insentient elements as Acharya Akalanka has remarked in the context of Non-absolutism:

‘Except consciousness in all other regards, the soul can be identical with the non-soul.’<sup>20</sup>

So does the Vedanta system. Overlooking all the differences it sees oneness of the whole world of being. So far as Jain view is concerned it believes in oneness of the world<sup>21</sup> but at the same time it emphasizes the individuality or difference of the entity constituting the world. Bhagavati Sūtras and Pannavaṇa deal with such differences pertaining to the living and non-living entities. How one atom and the living being differ from the another of the same category, of being similar in many respect, has been shown in them with the help of higher mathematics technically known as *chaṭṭhānavāḍīya* (sixfold gradation).<sup>22</sup>

One more astonishing factor referred to in Nayachakra is this that apart from the mode *Agarulagha* there is one quality also named *Agurulaghu* in each substance.<sup>23</sup> It is only the quality which helps substance to maintain its identity in the eternal flow of time. Due to this attribute animate always remains animate and inanimate always remains inanimate. Otherwise nothing could stay in its nature. Thus, the attribute *Agurulaghu* plays an important role to reserve the nature of basic elements.

Looking at the discussion of mode cultivated in the Jain canonical and the philosophical texts it appears that sharp and scientific vision is necessary to penetrate into the deeper levels of the concept.

1. Tattvārthādhigamasutra; 5/31 commentary; P- 394
2. Paṇṇavaṇa Vrtti Patra; 254
3. Illuminator of Jain Tenets (IJT); 1/40 comm.
4. Bhagavatī Sutra (Bh.S.); 14/4/52 Paṇṇa. 13/925
5. Ibid; 25/5/246; Paṇṇa. 5/438
6. Ibid; 8/2-84; Paṇṇa. 13/925
7. Ibid; 8/2-84; Paṇṇa.
8. Pramāṇa-Mimāṃsa; 1/1/32
9. Ibid; 1/1/32 comm.; P. 26-27
10. Bh. S.; 8/1
11. Ibid; 8/42
12. Ibid; 8/2-39
13. Ibid; 8/40-41
14. Appendix I in the Nayacakra by Mailladhavala, P. 211
15. IIT; 1/43, 42
16. Ibid; 1/44, 45
17. An article 'The Doctrine of Anekant in its Right Perspective' By Acharya Shree Mahapragya
18. I J T; 1/46
19. Bh. S.; 2/124-129, 8/2-84; Paṇṇa; 5/440-558
20. Saptabhangitaramgini,
21. Sthānāṅga 115
22. Bh.S. 2/124-129, 8/2-84 Paṇṇa 5/440-558



# Short Duration Yogic Exercises And Meditation Improve Sleep Quality and Mental Health In Post-Graduate Students

—Dr. J.P.N. Mishra

## Abstract

The effects of short duration yogic exercises and Preksha Meditation on sleep quality and mental health of adult and post-graduates students was investigated. ‘Interventions’ by yogic exercises in the morning followed by meditation were carried out for 4 weeks. After the ‘intervention’, awake time after sleep onset decreased significantly and sleep efficiency increased significantly, demonstrated that sleep quality had improved. Also the frequency of nodding in the evening decreased significantly. These results demonstrate that morning hour yogic exercise and meditation was effective in improving sleep quality. After the ‘intervention’, mental health and volition and physical health had also improved by improving sleep quality.

### Key Words :

Yogic exercise, meditation, intervention, mental health, sleep.

### Introduction :

Sleep quality is one of several those factors which are responsible for physical and mental performance. Sleep deficits or disorders are among the most common difficulties facing the young students whose primary goal is to maintain good health and perform better in their studies. They also intend to live a sound but independent lifestyle. Tanaka et. al. have reported that a short nap (30 minute between 13.00 and 15 hours) and moderate exercise, such as walking in the evening, all important in the maintenance

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर—दिसम्बर, 2002  131

and improvement of sleep quality.<sup>1</sup> They further extended their studies and reported later that short nap and moderate exercise also improve mental health in both adult and elderly subjects.<sup>2</sup> We have observed that morning hour relaxation followed by meditation practices improves physical health along with mental equilibrium. The present study examined the combined effects of yogic exercises and preksha meditation on sleep quality and mental health of post-graduate students staying in the hostels.

### Methods :

The subjects of the study 14 adult post-graduate students of Jain Vishva Bharati Institute (21 + 4.4 years) who gave their informed consent for their participation in the study. "Intervention" includes 30 min. yogic exercise followed by 30 min. preksha meditation in early morning before sunrise for four weeks without break. In the practice of yogic exercise all the subjects we trained to practice light rejuvenating exercise for all part of the body i.e. from head to toe separately. Process practice of preksha meditation includes relaxation (kayotsarga) — 5 min. perception of breathing-10 min. and perception of bliss 10 min. All the students were allowed to lead normal routine life in their hostel. Only those students were included in the study who were showed normal sleeping pattern. The subjects physical activities were recorded using actigraphs for 1 week before and post-intervention. Actigraph data were analysed to determine 'sleep' and 'wake' periods by applying a cole's validated algorithm<sup>3</sup> to the portion of the records identified as sleep periods by the combination of sleep logs. Subjects were also asked to maintain their daily sleep-wakeful period records which was also analysed for total sleep periods. Mental health was assessed using the Mental Health Check list/Questionnaire (GHQ).<sup>4</sup> Furthermore, after the intervention, a questionnaire mainly enquiring about subject's volition and physical health was performed.

### Results :

After the 'intervention' sleep efficiency increased significantly (fig. 1) demonstrating that sleep quality had improved. Furthermore, nodding in the evening decreased significantly after the 'intervention' (fig. 2). GHQ scores also decreased significantly, showing that their mental health had also improved. After the 'intervention', many of the participants answered that volition and physical health had also improved. Volition increased upto 68.9% and overall physical health improved upto 86.9% in all the subjects.

### Discussion :

The study's result demonstrated that proper rejuvenating exercise and meditation practice during morning hours was effective in improving

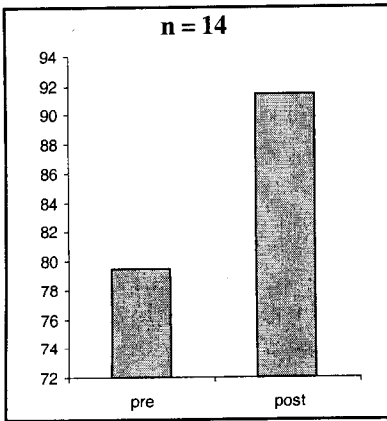


Fig. 1. Sleep Efficiency

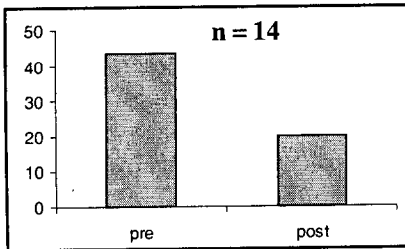


Fig. 2. Nodding in the Evening

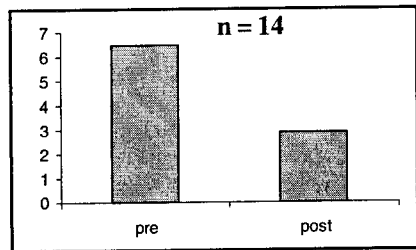


Fig. 3. G.H.Q. Score

sleep quality. Until recently, it has been considered that taking a nap has a negative effect on the quality of nocturnal sleep. However, a short nap of 30 min. between 13.00 and 15.00 hours has little quantitative effect on nocturnal sleep. Moreover, a short nap is effective in improving the recovery of attention, concentration and brain function.<sup>5</sup> Relaxative exercises and tranquility yielding meditation practices also bring about the state of mental homeostasis, which may ultimately yield good quality sleep. The present study's results reconfirm the hypothesis that meditation is effective in maintaining sleep quality and indicate that this may be an effective way for



young students to maintain their quality of sleep as well as general performance in their studies.

The body temperature phase of young/adults is found to be little late as compared to elderly people. The peak body temperature is said to be in early morning hours.<sup>6</sup> Moreover there occurs the existence of a ‘‘forbidden zone’’ which coincides with highest body temperature and peak muscle activity.<sup>7,8</sup> It is considered that this time zone occurs, in young people, around 5.00-6.00 hours in the morning. Rejuvenating light exercises during this hour is effective for improving the sleep quality in the following rest phase. It is also considered that exercise in the evening or in early morning hours increases the activity of the arousal system in the ‘forbidden zone’. It is further considered that meditation may be working through the pathway of reticulating hypothalamic route. Neuronal activity of hypothalamus stabilizes after meditation which results in negative feedback to RAS which results in better quality of sleep, because daytime arousal is regulated. This is well demonstrated in the result of study. This is again substantiated with the increased frequency of nodding. After the ‘intervention’, mental health had also improved with improving sleep quality, as well as volition and physical health. The study’s results suggest that this ‘intervention’ technique is effective in improving the quality of life and the activity of daily living and routine of young students.

---

### References :

1. Tanaka H, Taira K, Arakawa M et al. Effects of short nap and exercise on elderly people having difficulty in sleeping. *Psychiatry Clin. Neurosci.* 2003; 55:173-174.
2. Cole RJ, Kripke DF, Gruen W et al. Technical note : Automatic sleep/wake identification from wrist activity. *Sleep* 1992; 15:461-469.
3. Mishra JPN, Efficacy of relaxation and meditation. On improving physical and mental health of students. *Everyday Science* 1999; 29:48-50.
4. Goldberg DP, Hillier VF. A scaled version of the General Health Questionnaire. *Psychol Med.* 1979; 9:139-145.
5. Shirakawa S, Takase M, Tanaka H et. al. Improvement effects of chronobiological scheduled nap sleep on night-time sleep in the aged. *Jpn. J. Clin. Electroencephal.* 1999; 41:708-712.
6. Czeisler CA, Dumont M, Duffy JF et. al. Association of sleep-wake habits in older people with changes in output of circadian pacemaker. *Lancet* 1992; 340:933-936.
7. Atkinson G, Reilly T. Circadian variation in sports performance. *Sports Med.* 1996; 21:292-312.
8. Tanaka H, Taira K, Arakawa M et. al. Short naps and exercise improve sleep quality and mental health. *Psychiatry Clin. Neuro.* 2002; 56:233-234.



यः स्याद्वादी वचनसमये योप्यनेकान्तदृष्टिः  
श्रद्धाकाले चरणविषये यश्च चरित्रनिष्ठः ।  
ज्ञानी ध्यानी प्रवचनपटुः कर्मयोगी तपस्वी,  
नानारूपो भवतु शरणं वर्धमानो जिनेन्द्रः ॥

जो बोलने के समय स्याद्वादी, श्रद्धाकाल में अनेकान्तदर्शी, आचरण की भूमिका में चरित्रनिष्ठ, प्रवृत्तिकाल में ज्ञानी, निवृत्तिकाल में ध्यानी, बाह्य के प्रति कर्मयोगी और अन्तर् के प्रति तपस्वी है, वह नानारूपधर भगवान् वर्द्धमान मेरे लिए शरण हो ।

*With Best Compliments From :*

## **AMIT SYNTHETICS**

Shop :

W-3207, Surat Textile Market, SURAT

Office :

420, Anand Market, Ring Road, SURAT-395 002

Phone : 2622076, 2625680, 2622027 • Fax : 0261-2636651

### **PEMCHAND CHOPRA CHARITABLE TRUST**

W-3207, Surat Textile Market, Ring Road  
SURAT

### **JHAMKUDEVI CHOPRA CHARITABLE TRUST**

11-A, B, Sai Ashish Society  
Udhana Magdalla Road  
SURAT

प्रकाशक - सम्पादक - डॉ. मुमुक्षु शान्ता जैन द्वारा जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनू  
के लिए प्रकाशित एवं जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित.